निवेदन

स्व० शरच्चन्द्र चट्टोपाध्यायकी उपन्यास-कहानी-लेखकके रूपमें ही विशेष प्रसिद्धि है; परन्तु इस बातको बहुत ही कम लोग जानते हैं कि वे उत्कृष्ट निबन्ध लेखक और आलोचक भी थे। समाज-शास्त्र और दर्शन शास्त्रोंका उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। अपने मित्रों और परिचितोंको लिखे हुए अनेक पत्रों (शरत्पत्रावली) में उन्होंने इसका उल्लेख किया है। वे बड़े ही अध्ययनशील थे। प्रतिदिन पाँच छह घण्टे अध्ययन करना उनकी दिन-चर्यामें शामिल था। उसीका यह फल है कि उन्होंने बहुत ही उच्च कोटिके निबन्ध लिखे हैं। शरत्साहित्यके १५ वें भागमें उनका एक विस्तृत निबन्ध 'नारीका मूल्य' प्रकाशित हो चुका है। इस भागमें उनके छोटे बड़े २३ निबन्ध और भाषण प्रकाशित किये जा रहे हैं जो स्वदेश और साहित्य-सम्बन्धी हैं और अनेक पत्र-पत्रिकाओंमेंसे संग्रह किये गये हैं। प्रत्येकके अन्तमें उनके लिखे जाने या प्रकाशित होनेकी तिथि दी हुई है।

इनके सिवाय उनके और भी अनेक लेख और निबन्ध हैं जो इस भागमें नहीं दिये जा सके और आगे किसी भागमें प्रकाशित किये जावेंगे।

— प्रकाशक

विषय-सूची

शरत्-निबन्धावली

मेरी बात

हावड़ा-जिला कांग्रेस कमेटीका मैं सभापति था। मैं और मेरे जो सहकारी या सहकर्मी थे, उन सभीने इस्तीफा दे दिया है, यह बतानेके लिए ही आजकी सभाका आयोजन है। आडंबरके साथ अपनी वक्तृता सुनानेके लिए आप लोगोंको नहीं बुलाया है। भारतवर्षकी जातीय महासभा कांग्रेसकी इस छोटी-सी शाखाके कामका भार जो मुझे सौंपा गया था, उससे विदाई लेते समय आप लोगोंके निकट मुक्तकण्ठसे उसका कारण प्रकट करना ही इस सभाका उद्देश्य है। एक बात उठी थी कि चुपकेसे हट जानेसे ही तो काम चल जाता, इस लज्जाजनक घटनाको इतनी धूमधामसे जतानेकी क्या ज़रूरत थी? मैं समझता हूँ, ज़रूरत थी। मेरा खयाल है कि बिना कुछ कहे चुपचाप हट जानेसे चक्षु-लज्जासे अवश्य बचा जाता, किन्तु सत्यकी लज्जा चौगुनी हो उठती। इसके बाद इस जिलेकी कांग्रेस-कमेटी रहेगी या नहीं, मैं नहीं जानता। रह सकती है, न रहना भी विचित्र नहीं है; किन्तु वह चाहे जो हो, जिसके भीतर घाव है, उसे बाहर अ-क्षत या बिल्कुल स्वस्थ दिखानेका पाप मैं नहीं कर सकता। यह एक पालिसी हो सकती है, लेकिन इसे अच्छी पालिसी मैं नहीं मानता।

मैं काम करनेवाला मुस्तैद आदमी नहीं हूँ, इस भारी बोझके योग्य मैं नहीं था। अपनी अक्षमताका क्षोभ मेरे मनमें है ही, किन्तु जो भार एक दिन ग्रहण किया था, उसे आज अकारण अथवा केवल स्वार्थकी खातिर त्याग किये

जा रहा हूँ, यह कलंक भी जाते समय मुझे न मिलना चाहिए। मेरी बात आज आप लोगोंको जरा धैर्य धारण करके सुननी होगी।

मेरे मनमें शायद कोई अप्रिय कड़ी बात रह सकती है, शायद मेरे अभियोगमें अप्रिय सुर भी आप लोगोंके कानोंमें खटकेगा, किन्तु हम लोगोंकी वर्त्तमान अवस्थामें जो कुछ सत्य मैंने जाना या समझा है, वह आप लोगोंको सुनाये विना मेरी छुट्टी नहीं हो सकती। कारण, सत्यको छिपाना अपनेको धोखा देनेके ही समान है। इसमें एक आशंका विरोधी पक्षके उपहास और व्यंग-विद्रूपकी है। किन्तु अपने कर्मफलसे वही अगर मैंने कमाया हो तो मेरे सिवा और कौन उसे भोगेगा? और यदि ऐसा न हुआ हो, व्यंग विद्रूपका कारण यदि सचमुच ही न घटित हुआ हो तो भय किस बातका? यथार्थ सम्मानकी वस्तुपर जो मूढ़ अयथा व्यंग करता है, सारी लज्जा तो उसीकी है। अतएव यह सब मिथ्या दुश्चिन्ता मुझे नहीं है। मुझे एकमात्र चिन्ता निष्कपट रूपसे आप लोगोंके आगे सब कुछ प्रकट करनेकी है। कारण, प्रतिकारकी इच्छा और शक्ति आप लोगोंके ही हाथमें है। इस अंतिम घड़ीमें भी अगर इस कांग्रेस कमेटीको मरनेसे बचाना चाहें तो केवल आप ही बचा सकते हैं

पंजाबके अत्याचार * के उपलक्षमें लगभग डेढ़ साल पहले एक दिन जब देशव्यापी आन्दोलनने ज़ोर पकड़ा था, तब हम लोगोंने आकाशभेदी चीत्कारके साथ स्वराज माँगा था, गला फाड़फाड़कर महात्माजीके जयजयकारका प्रचार दसों दिशाओंमें करके कहा था कि स्वराज हमें चाहिए, ज़रूर चाहिए। स्वाधीनता मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है और स्वराजके विना अन्यायका कभी प्रतिविधान या प्रतिकार न हो सकेगा। बात मौलिक सत्य है, इस बातको जान पड़ता है, कोई भी अस्वीकार न कर सकेगा। यथार्थ ही स्वाधीनतामें मनुष्यका जन्मगत अधिकार है, भारतवर्षके शासनका भार भारतीयोंके ही हाथमें रहना चाहिए और इस जिम्मेदारीसे जो कोई उन्हें वंचित कर रखता है, वही अन्यायी है। यह सब सच है। किन्तु ऐसी ही और भी तो एक बात है, जिसे स्वीकार न करनेका कोई उपाय नहीं है। वह है हम लोगोंका कर्तव्य।

* जलियानवाला बागका हत्याकाण्ड।

अधिकार (Right) और कर्त्तव्य (Duty), दोनों शब्द एक दूसरेके पूरक और सारे आईनकी पहली बात है। सब देशोंके सामाजिक विधानमें एकको छोड़कर दूसरा एक घड़ी भी टिक नहीं सकता, यह एक सर्वसम्मत सत्य है। क्या केवल हमारे देशमें ही इस विश्व-नियमका व्यतिक्रम घटित होगा ? स्वराज या स्वाधीनता अगर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है तो ठीक उतनी ही कर्त्तव्यकी जिम्मेदारी लेकर भी तो हम माताके गर्भसे पृथ्वीपर आये हैं। एकसे बचकर दूसरेको हम प्राप्त करेंगे, इतना बड़ा अन्याय, असंगत दावा—इतना बड़ा पागलपन तो और कोई हो नहीं सकता। केवल घटनाक्रमसे भारतवर्षमें पैदा हुआ हूँ, इसलिए भारतकी स्वाधीनताके अधिकारका जोर गलेसे दावा करना भी किसी तरह सत्य नहीं हो सकता! और यह प्रार्थना अँगरेज ही क्यों, स्वयं विधाता पुरुष भी जान पड़ता है, मजूर नहीं कर सकते। यह सत्य, यह सनातन विधि, यह चिर-नियंत्रित व्यवस्था हृदयसे हृदयंगम करनेका दिन आज हम लोगोंका आया है। इसे चकमा देकर स्वतंत्रताका अधिकार केवल हम ही क्यों, पृथ्वीपर किसी मनुष्यने कभी नहीं पाया, और मेरा विश्वास है कि किसी दिन कभी कोई पा भी नहीं सकता। कर्त्तव्य-हीन अधिकार भी अधिकारके समान है। काम करेंगे नहीं, मूल्य देंगे नहीं, फिर भी पावेंगे, प्रार्थनाका यह अद्‌भुत ढंग ही अगर हमने पकड़ा है तो निश्चय ही मैं कहता हूँ कि केवल समस्वर और जोरदार गलेसे वन्दे मातरम् और महात्माजीकी जय-ध्वनिसे गला फाड़नेसे हमारा रक्त ही बाहर निकलेगा, पराधीनताकी भारी शिला सुईकी नोक भर भी टससे मस न होगी।

थोड़ा-सा अविनयका अपवाद स्वीकार करके भी कहना पड़ता है कि बूढ़ा होनेपर भी चिर दिनके अभ्याससे मेरी इन ऑंखोंकी नजर आज भी एकदम धुँधली नहीं हो गई है। जो देखता हूँ, कमसे कम इस हावड़ा जिलेमें जो देखता हूँ, वह खालिस भीखका माँगना, दाम न देकर माँगना, चकमा देकर माँगना है। मनुष्यके काम-काज, लौकिकता, आहार-विहार, अमोद-प्रमोद, सब प्रकारकी सुख-सुविधाओंमें कहीं कोई त्रुटि न होने पावे, पानमें जरा-सा चूना तक न कम होने पावे; उसके बाद स्वराज कहो, स्वाधीनता कहो, चरखा

जा रहा हूँ, यह कलंक भी जाते समय मुझे न मिलना चाहिए। मेरी बात आज आप लोगोंको जरा धैर्य धारण करके सुननी होगी।

मेरे मनमें शायद कोई अप्रिय कड़ी बात रह सकती है, शायद मेरे अभियोगमें अप्रिय सुर भी आप लोगोंके कानोंमें खटकेगा, किन्तु हम लोगोंकी वर्त्तमान अवस्थामें जो कुछ सत्य मैंने जाना या समझा है, वह आप लोगोंको सुनाये विना मेरी छुट्टी नहीं हो सकती। कारण, सत्यको छिपाना अपनेको धोखा देनेके ही समान है। इसमें एक आशंका विरोधी पक्षके उपहास और व्यंग-विद्रूपकी है। किन्तु अपने कर्मफलसे वही अगर मैंने कमाया हो तो मेरे सिवा और कौन उसे भोगेगा? और यदि ऐसा न हुआ हो, व्यंग विद्रूपका कारण यदि सचमुच ही न घटित हुआ हो तो भय किस बातका? यथार्थ सम्मानकी वस्तुपर जो मूढ़ अयथा व्यंग करता है, सारी लज्जा तो उसीकी है। अतएव यह सब मिथ्या दुश्चिन्ता मुझे नहीं है। मुझे एकमात्र चिन्ता निष्कपट रूपसे आप लोगोंके आगे सब कुछ प्रकट करनेकी है। कारण, प्रतिकारकी इच्छा और शक्ति आप लोगोंके ही हाथमें है। इस अंतिम घड़ीमें भी अग इस कांग्रेस कमेटीको मरनेसे बचाना चाहें तो केवल आप ही बचा सकते हैं

पञ्जाबके अत्याचार * के उपलक्षमें लगभग डेढ़ साल पहले एक दिन जब देशव्यापी आन्दोलनने ज़ोर पकड़ा था, तब हम लोगोंने आकाशभेदी चीत्कारके साथ स्वराज माँगा था, गला फाड़फाड़कर महात्माजीके जयजयकारका प्रचार दसों दिशाओंमें करके कहा था कि स्वराज हमें चाहिए, ज़रूर चाहिए। स्वाधीनता मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है और स्वराजके विना अन्यायका कभी प्रतिविधान या प्रतिकार न हो सकेगा। बात मौलिक सत्य है, इस बातको जान पड़ता है, कोई भी अस्वीकार न कर सकेगा। यथार्थ ही स्वाधीनतामें मनुष्यका जन्मगत अधिकार है, भारतवर्षके शासनका भार भारतीयोंके ही हाथमें रहना चाहिए और इस जिम्मेदारीसे जो कोई उन्हें वञ्चित कर रखता है, वही अन्यायी है। यह सब सच है। किन्तु ऐसी ही और भी तो एक बात है, जिसे स्वीकार न करनेका कोई उपाय नहीं है। वह है हम लोगोंका कर्तव्य।

* जलियानवाला बागका हत्याकाण्ड।

अधिकार (Right) और कर्त्तव्य (Duty), दोनों शब्द एक दूसरेके पूरक और सारे आईनकी पहली बात है। सब देशोंके सामाजिक विधानमें एकको छोड़कर दूसरा एक घड़ी भी टिक नहीं सकता, यह एक सर्वसम्मत सत्य है। क्या केवल हमारे देशमें ही इस विश्व-नियमका व्यतिक्रम घटित होगा? स्वराज या स्वाधीनता अगर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है तो ठीक उतनी ही कर्त्तव्यकी जिम्मेदारी लेकर भी तो हम माताके गर्भसे पृथ्वीपर आये हैं। एकसे बचकर दूसरेको हम प्राप्त करेंगे, इतना बड़ा अन्याय, असंगत दावा—इतना बड़ा पागलपन तो और कोई हो नहीं सकता। केवल घटनाक्रमसे भारतवर्षमें पैदा हुआ हूँ, इसलिए भारतकी स्वाधीनताके अधिकारका जोर गलेसे दावा करना भी किसी तरह सत्य नहीं हो सकता! और यह प्रार्थना अँगरेज ही क्यों, स्वयं विधाता पुरुष भी जान पड़ता है, मंजूर नहीं कर सकते। यह सत्य, यह सनातन विधि, यह चिर-नियंत्रित व्यवस्था हृदयसे हृदयगम करनेका दिन आज हम लोगोंका आया है। इसे चकमा देकर स्वतन्त्रताका अधिकार केवल हम ही क्यों, पृथ्वीपर किसी मनुष्यने कभी नहीं पाया, और मेरा विश्वास है कि किसी दिन कभी कोई पा भी नहीं सकता। कर्त्तव्य-हीन अधिकार भी अधिकारके समान है। काम करेंगे नहीं, मूल्य देंगे नहीं, फिर भी पावेंगे, प्रार्थनाका यह अद्भुत ढंग ही अगर हमने पकड़ा है तो निश्चय ही मैं कहता हूँ कि केवल समस्वर और जोरदार गलेसे वन्दे मातरम् और महात्माजीकी जय-ध्वनिसे गला फाड़नेसे हमारा रक्त ही बाहर निकलेगा, पराधीनताकी भारी शिला सुईकी नोक भर भी उससे मस न होगी।

थोड़ा-सा अविनयका अपवाद स्वीकार करके भी कहना पड़ता है कि बूढ़ा होनेपर भी चिर दिनके अभ्याससे मेरी इन आँखोंकी नज़र आज भी एकदम धुँधली नहीं हो गई है। जो देखता हूँ, कमसे कम इस हावड़ा जिलेमें जो देखता हूँ, वह खालिस भीखका माँगना, दाम न देकर माँगना, चकमा देकर माँगना है। मनुष्यके काम-काज, लौकिकता, आहार-विहार, अमोद-प्रमोद, सब प्रकारकी सुख-सुविधाओंमें कहीं कोई त्रुटि न होने पावे, पानमें जरा-सा चूना तक न कम होने पावे; उसके बाद स्वराज कहो, स्वाधीनता कहो, चरखा

कहो, खद्दर कहो, मय अँगरेजको भारत-सागरके पार उतार देना तक—जो हो सो हो, कोई आपत्ति नहीं है। यही मनोभाव यहाँ देख पड़ता है। आपत्ति उन लोगोंको नहीं हो सकती, किन्तु अँगरेजको है। सौमें पचानवे लोगोंकी इस हँसने लायक माँगको वह अगर हँसकर उड़ा दे और कहे कि भारतवासी स्वराज नहीं चाहते तो क्या वह बिल्कुल झूठ कहता है? जिस अँगरेजने पृथ्वी भरमें फैला हुआ राज्य बढ़ाया है, जो अपने देशके लिए एक सेकिंड भी मनमें दुविधा नहीं लाता, जो स्वाधीनताके स्वरूपको जानता है और पराधीनताकी लोहेकी जंजीरको मजबूतीसे तैयार करनेके कौशलको जिससे बढ़कर कोई नहीं जानता, उसे क्या केवल चकमा देकर, आँखें दिखाकर, गलेसे और कलमसे गाली-गलौज करके, उसकी भूल-चूकके हजारों प्रमाण छापेके अक्षरोंमें संग्रह करके, उसे शर्मिन्दा करके ही क्या इतनी बड़ी चीज प्राप्त की जा सकेगी? यह प्रश्न तो इतना प्रमाणित हो गया है कि उसके बारेमें कोई तर्क ही नहीं उठाया जा सकता। इस लज्जाजनक वाक्यकी साधनामें केवल लज्जा ही बढ़ती जायगी, सिद्धि कभी प्राप्त नहीं होगी।

आत्मवचना बहुत की जा चुकी, अब उसके लिए मुझमें और उद्यम नहीं है। जड़की तरह निश्चल होकर जन्मसिद्ध अधिकारका दावा जतानेमें भी अब उस तरह मेरे मुँहसे बोल नहीं फूटता; दूसरोंके मुँहसे तत्त्वकी बातें सुननेका धैर्य भी अब मुझमें नहीं है। मैं निश्चय जानता हूँ कि स्वाधीनताका जन्मसिद्ध अधिकार अगर किसीका रह सकता है तो वह मनुष्यत्वका, मनुष्यका नहीं। अन्धकारके बीच प्रकाशका जन्मसिद्ध अधिकार दीपककी ज्योतिका है, दीपकका नहीं। बुझे हुए दीपकका यह दावा उठाकर हंगामा करनेका उद्यम केवल अनर्थक ही नहीं, अपराध भी है। सब दावे उपस्थित करनेके पहले यह बात भूल जानेसे केवल अँगरेज ही नहीं, पृथ्वीभरके लोग हँसेंगे।

महात्माजी आज कारागारमें हैं। उनके कारावासके पहले दिन मार-काट नहीं मची, सारा भारतवर्ष स्तब्ध हो रहा। देशके लोगोंने गर्वके साथ कहा—यह केवल महात्माजीकी शिक्षाका फल या प्रभाव है। ऐंग्लो-इंडियन अखबारवालोंने हँसकर जवाब दिया—यह केवल Indifference (उदासीनता) है। किन्तु इस विवादमें किसी पक्षका प्रतिवाद करनेको मेरा जी नहीं चाहता। जान

पड़ता है, अगर ऐसा हुआ भी हो तो इसमें देशके लोगोंके लिए इतना गर्व करनेकी क्या बात है? Organised Violence (व्यवस्थित हिंसा) करनेकी हममें शक्ति नहीं है, प्रवृत्ति नहीं है, सुयोग नहीं है। फिर एकाएक मार-काट? वह तो एक आकस्मिकताका फल होती है। यह जो हम इतने भले आदमी यहाँ जमा हुए हैं, इनमेंसे किसीका व्यवसाय उपद्रव करना नहीं है, किसीकी ऐसी इच्छा भी नहीं है, फिर भी कोई जोर करके यह नहीं कह सकता कि हमारे घरको लौटनेके इस थोड़ेसे मार्गमें ही एकाएक हम कुछ उपद्रव नहीं खड़ा कर दे सकते हैं। साथ ही साथ एक बहुत बड़ा फसाद उठ खड़ा होना भी तो असभव नहीं है। ऐसा हुआ नहीं, अच्छा ही हुआ और मैं भी इसे तुच्छ कहकर इसकी अवज्ञा करना नहीं चाहता; किन्तु इसी बातको लेकर घमंडके साथ बलफते फिरनेका भी कोई कारण नहीं है। इसीको बहुत बड़ा कृतित्व कहकर सान्त्वना करनेकी चेष्टा भी आत्मप्रवंचना है। और उदासीनता? इस शब्दसे अगर किसीने यह इशारा किया हो कि महात्माजीको जेलमें बंद करनेसे देशके लोगोंको गंभीर व्यथा नहीं खटकी, तो इससे बढ़कर मिथ्या बात और हो ही नहीं सकती। व्यथा तो हम लोगोंको मर्मभेदी ही हुई है, किन्तु उसे चुपचाप सह लेना ही हमारा स्वभाव है; प्रतीकारकी कल्पना हम लोगोंके मनमें आती ही नहीं।

किसी प्रियतम परम आत्मीयके मरनेपर शोकार्त मन जैसे उपाय-हीन वेदनासे रोता रहता है, फिर भी जो अवश्यभावी है, उसके विरुद्ध कुछ करना या उसे रोकना अपने हाथकी बात नहीं है—यह कहकर मनको समझाकर फिर खाना-पीना, आमोद-आह्लाद, हँसी-दिल्लगी, काज-काम बदस्तूर पहलेकी ही तरह चलता रहता है। महात्माजीके कारावासके सम्बन्धमें भी देशके लोगोंका मनोभाव प्रायः वैसा ही है। उनका क्रोध जाकर पड़ा जज साहबके ऊपर। किसीने कहा—जजने जो महात्मा-जीके लिए प्रशसाके वाक्य कहे, वह केवल दिखावा या प्रवंचना है। किसीने कहा—उन्हें दो वर्षकी सजा देनी चाहिए थी। किसीने कहा—अधिकसे अधिक तीन वर्ष। किसीने कहा—नहीं, चार वर्ष। लेकिन जब छः वर्षकी जेल हो गई, तब उपाय क्या है? अब सरकार अगर दया करके कुछ पहले उन्हें छोड़ दे तो ठीक। किन्तु महात्माजी यह सोचकर

जेल नहीं गये। उनके मनमें यही आशा थी कि जेल चाहे छः वर्षकी हो, चाहे दस वर्षकी, उन्हें छुड़ाना तो देशके लोगोंके ही हाथमें है। जिस दिन वे चाहेंगे, उससे एक दिन अधिक कोई उनको जेलके भीतर नहीं रख सकेगा, वह सरकार चाहे जितनी शक्तिशाली क्यों न हो। किन्तु वह आशा अकेले उन्हींको थी, देशके लोगोंको ऐसा भरोसा करनेका साहस नही हुआ। उनका धनोपार्जनसे लेकर आहार निद्रा तक सब उसी तरह चलने लगा—उसमें कोई रुकावट नहीं हुई, उनके क्षुद्र स्वार्थमे कहीं जरा-सा भी विघ्न नही पड़ा, केवल महात्माजी और उनके पचीस हजार सहकर्मी देशके कामसे देशकी जेलोंमें सड़ने लगे। प्रतीकार तो क्या करेंगे, इतनी बड़ी हीनताकी लज्जाका अनुभव करनेकी शक्ति तक जैसे इन लोगोंमें नहीं रही। ये बुद्धिमान् हैं, बुद्धिकी विडम्बनासे इन्होंनें बहाना निकाला है कि नानवायलेंस (अहिंसा) क्या संभव है ? नान-को-आपरेशन (असहयोग) क्या चल सकता है ? गाँधी-जीका Movement (आंदोलन) क्या Practical (व्यावहारिक) है ? इसीसे तो हम लोग । किन्तु कौन इन्हें समझावे कि आन्दोलन ही सब कुछ नहीं है। जो Move (संचालन) करता है, वह मनुष्य ही सब कुछ या उसकी जान है। जो मनुष्य है, उसके लिए सहयोग, असहयोग, हिंसा, अहिंसा सब बराबर हैं, सभी समान फल देनेवाले हैं।

असहयोग भिक्षा माँगना नहीं है। वह एक काम है। अतएव यह बात किसी तरह सच नहीं है कि असहयोगकी राह इस देशमें अचल है। मुक्तिका मार्ग उधर नहीं गया। कमसे कम अब भी ऐसे लोगोंका एक दल है—वह सख्यामें चाहे जितना थोड़ा हो—जो समस्त अन्तःकरणसे इसपर आज भी विश्वास रखता है। जानते हैं, ये लोग कौन हैं ? एक दिन जिन्होंने महात्मा-जीकी व्याकुल पुकारपर स्वदेश-सेवाके व्रतमें जीवन अर्पण कर दिया था—वकील अपनी वकालत छोड़कर, शिक्षक शिक्षकता छोड़कर, विद्यार्थी स्कूल-कालिज छोड़कर उनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये थे। जो अधिकांश आज कारागारमे हैं, ये उनके ही अवशिष्ट अंश हैं। देशके कल्याणके लिए, अपने कल्याणके लिए, मेरे कल्याणके लिए, सब नर नारियोंके कल्याणके लिए जो व्यक्तिगत स्वार्थको तिलाञ्जलि दे आये थे, आज उन्हें उसी देशके लोगोंने

किस दशाको पहुँचा दिया है, आपको मालूम है ? आज वे सम्मानहीन, प्रतिष्ठाहीन, लाछित, पीडित, भिक्षुकोंका समूह हैं। उनके कपड़े पुराने, फटे और मैले हैं। वे गृहहीन हैं। वे मुट्ठी मुट्ठी भीख मॉगकर जीवन बिता रहे हैं। साधारण तेल-नोनके पैसोंके लिए स्टेशनपर खड़े होकर भीख मॉगनेके लिए लाचार हैं। फिर भी अपनी इच्छासे वे सब कुछ त्याग कर आये हैं। जितनेकी उन्हें जरूरत है, वह थोड़ा-सा सारे देशके निकट कितना अकिंचित्कर है ! इतना-सा भी वे सम्मानके साथ नहीं प्राप्त कर सकते। फिर भी ये ही लोग आज अपने भीतर स्वराजका आसन और देशके बाहर सारे भारतकी श्रद्धा और सम्मानका झंडा लिए घूमते हैं। आशाका दीपक, वह चाहे जितना क्षीण क्यों न हो, आज भी इन्हीं लोगोंके हाथमें है। इनके निर्यातनकी कहानी समाचारपत्रोंके पन्नोंमें छपती है, किन्तु जो अप्रकट लांछना और अपमान इन लोगोंको स्वदेशवासियोंके निकट सहना पड़ता है, उसकी तुलनामें वह कितनी-सी है—कुछ नहीं है। महात्माजीका आन्दोलन रहे चाहे जाय, अगर न्याय, धर्म और सत्य विधि-विधान कहीं किसी जगह है तो, इन लोगोंको अश्रद्धेय बना डालनेके—दीन, हीन, व्यर्थ बना देनेके महापापका प्रायश्चित्त देशके लोगोंको करना ही पड़ेगा। हावड़ा जिलेकी तरफसे अगर आज मैं मुक्त-कण्ठसे कहूँ कि कमसे कम इस जिलेके आदमी स्वराज नहीं चाहते तो उसका तीव्र प्रतिवाद होगा। हरएक अखबारमें मुझे अनेक कटुवाक्य और गाली गलौज सुनना होगा। लेकिन तो भी यह बात सच है। कुछ करेंगे नहीं; कोई क्षति, कोई असुविधा उठावेंगे नहीं, कुछ भी सहायता देंगे नहीं—अपनी बँधी हुई सुनिश्चित जीवन-यात्राके बाहर ज़रा भी जायँगे नहीं, हमारे रुपयेपर रुपया, घरके ऊपर घर, गाड़ीके ऊपर गाड़ी, दुमंजिलेके ऊपर तिमजिला और तिमजिलेके ऊपर चौमंजिला उठता रहे, केवल ये ही कुछ बुद्धिभ्रष्ट, लक्ष्मीके त्यागे हुए लोग कुछ खाये-पिये बिना, नंगे बदन नंगे पैर घूम घूमकर अगर स्वराजको ला दे सकें तो ला दें; तब न होगा धीर सुस्थ भावसे ऑंखें मूँदकर आरामसे रस-गुल्लेकी तरह उसका स्वाद लिया जायगा। किन्तु ऐसा काण्ड तो कहीं भी कभी हुआ नहीं। असल बात यह है कि ये लोग यह विश्वास ही नहीं कर सकते कि स्वराज कभी हो सकता है, उसके लिए चेष्टा की जा सकती है। क्या

होगा उससे, क्या होगा चरखेसे, क्या होगा देशात्मबोधकी चर्चासे ! इन बातोंमें क्या रक्खा है ? बुझी हुई दीपशिखाकी तरह मनुष्यत्व धो-पुँछ गया है। एकमात्र हाथ फैलाकर भिक्षा माँगनेकी चेष्टाके सिवा और किसी बातसे क्या होगा !

एक नमूना देता हूँ—

उस दिन नारी-कर्म-मन्दिरसे दो महिलाओं और श्रीयुत डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय महाशयको लेकर घोर दुर्योग (आँधी-पानी) के बीच आमृता जिलेकी ओर हम लोग गये। सोचा था, ऋषितुल्य और सर्वदेशपूज्य व्यक्तिको साथ लेनेसे हमारी इस यात्राका अच्छा फल होगा। हुआ भी। वन्दे मातरम्, महात्माजी और डॉ० प्रफुल्लचन्द्र रायके जयजयकारमें कोई कमी नहीं हुई, और इस रोगी आदमीको स्थानीय रायबहादुरके टूटे तामजामके भीतर बलपूर्वक बिठानेमें भी लोगोंका आन्तरिक और एकान्त उद्यम देख पड़ा। किन्तु उसके बादका इतिहास सक्षेपमें इस प्रकार है—हमारे जाने-आनेका खर्च हुआ पचास रुपए। आँधी-पानीमें हमारी देखरेख रखते हुए घूमनेमें पुलीसका भी जान पड़ता है, इतना ही खर्च हुआ होगा। उन्नतिशील स्थान है, वकील मुख्तार और बहुतसे धनीलोग रहते हैं। फिर भी स्थानीय करघे और चरखेकी उन्नतिके लिए चन्दा किया गया तो वादा हुआ तीन रुपये पाँच आनेका। इसके बाद आचार्य देव (प्रफुल्लचन्द्र) ने बड़े परिश्रमसे यह आविष्कार किया कि यहाँके दो वकील विलायती कपड़ा नहीं खरीदते और एक आदमीने उनकी वक्तृतासे मुग्ध होकर उसी दम प्रतिज्ञा कर ली कि भविष्यमें अब वह भी नहीं खरीदेंगे। लौटते समय राहमें प्रफुल्लचन्द्रने प्रफुल्ल होकर मेरे कानमें चुपकेसे कहा—हाँ, यह जिला बेशक उन्नतिशील है। और जरा लगे रहिए, Civil disobedience (भद्रअवज्ञा), जान पड़ता है, आप लोग ही डिक्लेयर (घोषित) कर सकेंगे।

और जन साधारण ? वह तो सर्वथा भद्रलोगोंके ही पीछे चलते हैं।

यह चित्र दु:खका चित्र है, वेदनाका इतिहास है, अंधकारकी तसवीर है। किन्तु यही क्या आखिरी बात है ? यही अवस्था क्या इस जिलेके लोग चुपचाप शिरोधार्य कर लेंगे ! किसीको भी कोई बात, कोई त्याग, कोई कर्त्तव्य ही क्या

न दिखाई देगा ? जिन लोगोंने देशसेवाके व्रतमें जीवन अर्पण कर दिया है, जो लोग किसी भी प्रतिकूल अवस्थाको स्वीकार नहीं करना चाहते, जिन्होंने गवर्नमेंटसे भी हार नहीं मानी, वे क्या अन्तमें अपने देशके लोगोंसे ही हार मानकर लौट जायँगे ? आप लोग क्या उनकी कोई खबर ही न लेंगे ?

इस प्रसगमें मैं बंगालकी प्रांतीय कांग्रेस कमेटीकी बातका भी उल्लेख करना चाहता था; लेकिन अब और लज्जा बढ़ानेकी प्रवृत्ति नहीं होती।

मेरी एक आशा यही है कि ससारकी सभी शक्तियाँ लहरकी गतिसे आगे बढती हैं। इसीमें शक्तिका उत्थान-पतन देख पड़ता है। चलनेके वेगसे आज जो नीचे पड़ा है, कल वही फिर ऊपर उठेगा, नहीं तो उसका चलना सम्पूर्ण न होगा। पहाड़में गति नहीं है, वह निश्चल है, इसीसे उसकी चोटी एक जगहपर ऊँची रहती है, उसे नीचे नहीं आना पड़ता। किन्तु हवाके थपेड़े खानेवाले सागरकी यह व्यवस्था नहीं है। वह उठता है, गिरता है। यह उसके लिए लज्जाका कारण नहीं है। यह उसकी गतिका चिह्न है, उसकी शक्तिकी धारा है। तभी वह केवल ऊँचा होकर रहना चाहता है, जब जमता है तब बर्फ हो उठता है। उसी तरह अगर हमारा यह भी एक Movement (आदोलन) है, पराधीन देशका एक अभिनव गति-वेग है, तो उठने-गिरनेका कानून इसे भी मान लेना होगा, नहीं तो यह चल ही नहीं सकेगा।

किन्तु इसके साथ जो चलेंगे, उनके लिए रसद पहुँचानी चाहिए। रसद न पाकर भी इतने दिन किसी तरह हम लँगड़ाते-लँगड़ाते लड़खड़ाते चले हैं। किन्तु इस समय हम भूखे, थके और पीड़ित हैं। हम लोगोंको विदाई देकर आप लोग नये यात्रियोंको चुन लीजिए।*

---

* १४ जुलाई सन् १९२२ को हावड़ा-जिला कांग्रेस-कमेटीका सभापतिपद त्याग करते समय पठित भाषण।

स्वराज्यकी साधनामें नारी

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके दु.ख कहे हैं। जान पड़ता है, पृथ्वीके जितने दु.ख हैं, सभीको इन तीनोंके पर्यायमें डाला जा सकता है। किन्तु आज मैं उनकी आलोचना नहीं कर रहा हूँ। वर्तमान कालमें जिन तीन प्रकारके भयानक दुःखोंके बीचसे हमारी जन्मभूमि लुढ़कती जा रही है, वे भी तीन ही प्रकारके हैं, लेकिन वे हैं राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक। राजनीतिको हम सभी लोग नहीं समझते, किन्तु जान पड़ता है, इस बातको अनायास ही समझ सकते हैं कि ये तीनों ही एकदम न काटे जा सकनेवाले बन्धनसे बँधे हैं। एक बात उठी है कि एक राजनीतिमें ही हमारे सब कष्टों, सब दुःखोंकी समाप्ति है। शायद यह बात सच है, शायद नहीं है, शायद इसमें सत्य और मिथ्या दोनों मिले-जुले हैं, किन्तु यह बात भी किसी तरह सत्य नहीं है कि मनुष्यकी किसी भी ओरसे दुःख दूर करनेकी सच्ची चेष्टा एकदम व्यर्थ हो जा सकती है। जो, लोग राजनीतिको अपनाये हुए हैं, वे सर्वथा सब समय हमारे वदनीय हैं। किन्तु हम लोग सभी अगर उनके चरणचिह्नोंके पीछे चलनेके सुस्पष्ट चिह्न ढूँढे न पावें—जो निशान केवल स्थूल दृष्टिसे ही देख पड़ते हैं—हमारे आर्थिक और सामाजिक स्पष्ट दुःख—केवल इन्हींके ही प्रतीकारकी चेष्टा करें, तो जान पड़ता है, महाप्राण राजनीतिक नेताओंके कंधेसे एक भारी बोझा उतार दे सकते हैं।

तुम्हारी लम्बी छुट्टीके पहले, तुम्हारे और मेरे भी परम बन्धु श्रीयुक्त सुरेन्द्रनाथ मैत्र महाशयने इस दूसरे प्रकारकी असह्य वेदनाकी कुछ बातें तुम लोगोंको याद करा देनेके लिए मुझे यहाँ बुलाया है। दूसरे, यह अफवाह है कि मैं देशके गाँवोंमें बहुत दिनोंतक बहुत घूमा हूँ। छोटे-बड़े, उच्च नीच, धनी-निर्धन, पण्डित मूर्ख बहुतसे लोगोंसे मिल्जुलकर अनेक तत्त्वकी बातें मैंने सग्रह कर रक्खी हैं। अफवाह किसने उड़ाई है, यह समझ पाना कठिन है किन्तु बात ठीक सच न होनेपर भी उसे एकदम मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। देशके सौमें नब्बे आदमी जहाँ रहते हैं, उस गँवई गाँव में ही मेरा घर

है। मनके अनेक आग्रह और अनेक कुतूहल दबा न पाकर अक्सर अनेक बार दौड़ा जाकर मैं उनके बीचमें रहा हूँ और उनके बहुत दुःख और बड़ी गरीबीका आज भी मै साक्षी बना हुआ हूँ। उनके उस असह्य, अव्यक्त दुःख और गरीबीको मिटानेका भार लेनेके लिए आज अपने देशके सब नर-नारियोंका आह्वान करनेको जी चाहता है; किन्तु तब मेरा गला रुँध जाता है, जब खयाल आता है कि मातृभूमिके इस महायज्ञमें नारीको निमंत्रण देनेका मुझे कितना अधिकार है। जिसे दिया नहीं, उससे प्रयोजनके समय कुछ माँगनेका दावा किस मुँहसे करूँ ? कुछ समय पहले 'नारीका मूल्य' शीर्षक एक निबंध मैंने लिखा था। उस समय मेरे मनमें आया था कि अच्छा, अपने देशकी हालत तो मैं जानता हूँ, किन्तु और भी तो बहुत-से देश हैं, उन्होंने वहाँ नारीका मूल्य क्या दिया है ? पोथी-पत्रे खूब देख-भालकर जो सत्य प्रकट हुआ, उसे देखकर मैं एकदम आश्चर्यमें डूब गया। पुरुषके मनका भाव, उसका अन्याय और अविचार सभी जगह समान है। नारीको उसके न्यायसंगत अधिकारसे न्यूनाधिक प्रायः सभी देशोंके पुरुषने वञ्चित कर रक्खा है। इसीसे उस पापका प्रायश्चित्त आज सारे देशोंमें शुरू हो गया है। स्वार्थ और लोभके वशीभूत होकर पुरुषने जब पृथ्वीव्यापी युद्ध ठानकर मार काट मचा दी, तभी उनको पहले पहल होश हुआ कि यह खून-खराबी ही अन्त नहीं है, इसके ऊपर और भी कुछ है। पुरुषके स्वार्थकी जैसे सीमा नहीं है, वैसे ही उसकी निर्लज्जताकी भी हद नहीं है। इस दारुण दुर्दिनमें नारीके पास जाकर खड़े होनेमें उसे हिचक या रुकावट नहीं हुई। मैं जानता हूँ कि इस वंचिता नारीका दान न मिलनेपर इस संसारव्यापी नर मेघके प्रायश्चित्तका परिमाण आज क्या होता ! अथ च, इस बातको भूल जाते भी आज मनुष्यको देर नहीं लगी—हिचकिचाहट नहीं हुई।

आज अँगरेजी गवर्नमेंटके खिलाफ हमारे क्रोध और क्षोभकी सीमा नहीं है। गाली-गलौज भी हम कुछ कम नहीं करते। अपने अन्यायका दण्ड वे पावेंगे, किन्तु केवल उन्हींकी त्रुटिपर जोर देकर हम अगर परम निश्चिन्तताके साथ आत्म-प्रसाद लाभ करें, तो उसकी सजा कौन भोगेगा ? इस प्रसंगमें मुझे कन्या-दाय-ग्रस्त बाप-चाचा-ताऊ वगैरहके क्रोधांध चेहरे याद आते हैं

और उन सबके मुँहसे जो शब्द निकलते हैं, वे भी मनोरम नहीं होते। वे मुझसे यह कहकर शिकायत करते हैं कि मैं अपनी पुस्तकोंमें दहेजके खिलाफ प्रचण्ड आंदोलन करके उनको कन्या-दायसे छुटकारा पानेकी सुविधा क्यों नहीं कर देता ?

मैं कहता हूँ—आप कन्याका व्याह न कीजिए।

वे आँखें कपारपर चढाकर कहते हैं—आप यह क्या कहते हैं महाशय ! यह तो कन्यादाय है !

मैं कहता हूँ—कन्या जब दाय है, तब उसका प्रतिकार आप ही कीजिए। मेरे पास इस विषयको लेकर माथा गरम करनेका समय नहीं है और वरके बापको निरर्थक गालियाँ देनेकी प्रवृत्ति भी नहीं है। असल बात यह है कि बाघके मुँहपर खड़े होकर, हाथ जोड़कर, उससे वैष्णव होनेका अनुरोध करनेका कुछ फल होनेका भरोसा जैसे मुझे नहीं होता, वैसे ही यह विश्वास भी मैं नहीं करता कि जो वरका बाप कन्यादायग्रस्तके कान उमेठकर रुपये वसूल करनेकी आशा रखता है, उसे दाता कर्ण बननेका उपदेश देनेसे कुछ लाभ होगा। उसके पैर पकड़नेसे भी नहीं, उसके आगे गिड़गिड़ानेसे भी नहीं। असल प्रतीकार लड़कीके बापके हाथमें है, जो उसके हाथमें रुपये देता है। अधिकाश कन्यादायग्रस्त लोग मेरी बात नहीं समझते, किन्तु कोई कोई समझते हैं। वे मुख मलिन करके कहते हैं—यह कैसे होगा महाशय कि कन्याका व्याह न करें ? समाज जो है ! किन्तु सभी लड़कियोंके बाप अगर यह बात कहें तो मैं भी कह सकता हूँ कि मैं अकेले तो कुछ कर नहीं सकता। उनकी यह बात कि वह अकेले यह काम नहीं कर सकते, सुननेमें समझदारीकी-सी जरूर जान पड़ती है, किन्तु असल गल्ती भी इसी जगह है। कारण, पृथ्वीपर कोई भी संस्कार या सुधार दल बाँधकर नहीं होता। अकेले ही कमर कसकर खड़े होना पड़ता है। इसमें दुःख भी है। किन्तु यह अपनी इच्छासे ग्रहण किया हुआ अकेलेपनका दु.ख, एक दिन सघबद्ध होकर बहुतोंका कल्याण करता है। जो लड़कीको एक मनुष्य मानता है, केवल लड़की नहीं समझता, भार नहीं समझता, वही केवल इसके दु·खको वहन कर सकता है, दूसरा नहीं। और केवल व्याह देना नहीं, लड़कीको मनुष्य बनानेका भार भी उसीके ऊपर है, और यहींपर पिता होनेका गौरव है।

ये सब बातें मैं केवल इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि कुछ कहना चाहिए। सभामें खड़े होकर मनुष्यत्वके आदर्शका अभिमान लेकर भी प्रकट नहीं कर रहा हूँ। आज मैं बिलकुल अपनी गरजसे कह रहा हूँ। आज जो लोग स्वराज पानेके लिए सिर पटककर जान दे रहे हैं, मैं भी उनमेंसे एक हूँ। किन्तु मेरे अन्तर्यामी भगवान किसी तरह मुझे भरोसा नहीं देते। कहींसे, किसी अलक्ष्य स्थानसे जैसे वह हरघड़ी यह आभास दे रहे हैं कि यह नहीं होनेका। जिस चेष्टामें, जिस आयोजनमें, देशकी नारियाँ सम्मिलित नहीं हैं, उनकी सहानुभूति नहीं है, इस सत्यकी उपलब्धि करनेका कोई ज्ञान, कोई शिक्षा, कोई साहस आजतक जिनको हमने नहीं दिया, उनको केवल घरके घेरेके भीतर बिठाकर केवल चरखा कातनेके लिए बाध्य करके ही कोई बड़ी वस्तु नहीं प्राप्त की जा सकेगी। औरतोंको हमने जो केवल औरत बनाकर ही रक्खा है, मनुष्य नहीं बनने दिया, उसका प्रायश्चित्त स्वराज्यके पहले देशको करना ही चाहिए। अत्यन्त स्वार्थकी खातिर जिस देशने जिस दिनसे केवल उसके सतीत्वको ही बड़ा करके देखा है, उसके मनुष्यत्वका कोई खयाल नहीं किया, उसे उसका देना पहले चुका देना ही होगा।

इस जगह एक आपत्ति यह उठ सकती है कि नारीके लिए सतीत्व वस्तु तुच्छ नहीं है और यह भी संभव नहीं कि देशके लोगोंने अपनी मा-बहन-बेटियोंको साध करके छोटा बनाकर रखना चाहा है। सतीत्वको मैं भी तुच्छ नहीं कहता, किन्तु इसीको उसके नारी-जीवनका चरम और परम श्रेय जाननेको भी मैं कुसंस्कार समझता हूँ। कारण, मनुष्यका मनुष्य होनेका जो स्वाभाविक और सच्चा दावा है, उसे चकमा देकर जिस किसीने जिस किसी चीजको बड़ा करके खड़ा करनेकी चेष्टा की है, उसने उसे भी धोखा दिया है और आप भी ठगा गया है। उसने उसे भी मनुष्य नहीं बनने दिया, और वैसे ही अनजानमें अपने मनुष्यत्वको भी छोटा कर डाला है। यह बात उसका बुरा करनेकी चेष्टामे भी सत्य है और उसका भला करनेकी चेष्टामें भी सच है। फ्रेडरिक दि ग्रेट (Frederic The Great) बहुत बड़े राजा थे। वह अपने देशकी और लोगोंकी भलाईके बहुतसे काम कर गये हैं; लेकिन अपनी प्रजाको उन्होंने मनुष्य नहीं बनने दिया। इसीसे उनको भी मरनेके समय कहना पड़ा—" All my life I have been but a

slave driver ! ” अर्थात् मैं अपनी जिंदगी-भर गुलामोंको हाँकनेवाला ही रहा। अपनी इस उक्तिके भीतर वह कितनी बड़ी ग्लानि प्रकट कर गये हैं, इसे केवल जगदीश्वर ही जानते हैं।

अपने जीवनमें बहुत दिन तक मैंने Sociology (समाजशास्त्र) का अध्ययन किया है। देशकी प्रायः सभी जातियोंको घनिष्ठ भावसे देखनेका सुयोग मुझे मिला है। मुझे जान पड़ता है, जिन्होंने स्त्रियोंके अधिकारको जितना कम किया है, ठीक उसी अनुपातसे वे क्या आर्थिक और क्या नैतिक सभी तरफ़से छोटे हो गये हैं और इसकी उलटी दिशा भी वैसे ही सत्य है। अर्थात् जो जाति जितना ही संशय और अविश्वासका वर्जन करनेमें जितना समर्थ हुई है, जिन लोगोंने नारीके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताके प्रवाहको जितना मुक्त कर दिया है, उनकी पराधीनताकी जंजीर भी उतनी ही खुल गई है। इतिहासकी ओर आँख उठाकर देखो। इस पृथ्वीपर ऐसा एक भी देश न मिलेगा, जिस देशके लोगोंने नारियोंके मनुष्य होनेकी स्वाधीनताका अपहरण नहीं किया, फिर भी उनके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताको दूसरी कोई प्रबल जाति छीनकर जोर करके उन्हें अपने अधीन रख सकी हो। कहीं भी नहीं रख सकी, रख भी नहीं सकती, जान पड़ता है, भगवानका यह आईन ही नहीं है। हमारे अपने स्वाधीनताके प्रयत्नमें आज ठीक यही आशंका हमारी छातीके ऊपर सिल्की तरह बैठी है। जान पड़ता है, हमें यह कठिन काम सब कामोंके पहले करनेको बाकी रह गया है, जिसकी अँगरेजके साथ कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। कोई अगर कहे कि एशियामें ऐसे और देश भी तो हैं, जिन्होंने स्त्रियोंको रत्तीभर भी स्वाधीनता नहीं दी, पर उनकी स्वाधीनताका अपहरण किसीने नहीं किया। अपहरण करेगा ही, यह बात मैं भी नहीं कहता। तो भी मैं यह बात कहता हूँ कि उनकी जो स्वाधीनता आज भी बनी हुई है, वह बिल्कुल ही भाग्यके जोरसे। भाग्यबल न रहने पर अगर कभी यह वस्तु चली जाय तो हम लोगोंकी ही तरह केवल मात्र देशके पुरुषोंका दल कंधा देकर इस भारी बोझको सुईकी नोक भर भी टससे मस न कर सकेगा। केवल तत्कालकी दृष्टिसे इस सत्यका व्यत्यय (उलट-पुलट) बर्मा देशमें देख पड़ता है। आज वह देश पराधीन है। एक दिन उस देशमें नारीकी स्वाधीनता असीम थी। किन्तु

जिस दिनसे पुरुषोंने इस स्वाधीनताकी मर्यादाको लाँघना शुरू किया उसी दिनसे, एक ओर जैसे वे आप अकर्मण्य, विलासी और हीन होने लगे वैसे ही दूसरी ओर नारीमें भी स्वेच्छाचारिता—मनमानी—शुरू हो गई और उसी दिनसे देशका अधःपतन होने लगा। मैं इन लोगोंके अनेक शहरों, अनेक गाँवों, अनेक छोटे छोटे खेड़ोंमें बहुत दिनों तक घूमा फिरा हूँ। मैंने देख पाया है कि उनका बहुत कुछ चला गया है, किन्तु एक बड़ी चीज़ उन्होंने अब भी नहीं गँवाई। केवल नारियोंके सतीत्वको एक अत्यावश्यक वस्तु बनाकर उनकी स्वाधीनताको उनके भले होनेके मार्गको काँटोंसे रूँध नहीं दिया। इसीसे आज भी देशका रोजगार-धंधा, आज भी देशका धर्म कर्म, आज भी देशका आचार-व्यवहार वहाँ स्त्रियोंके हाथमें है। आज भी उनकी नव्वे प्रतिशत स्त्रियाँ लिखना-पढ़ना जानती हैं, और इसीसे आज भी हमारे इस अभागे देशकी तरह उनके देशसे आनन्द नामकी वस्तु एकदम निर्वासित नहीं हुई। यह सच है कि आज उनका सारा देश अज्ञता, जड़ता और मोहके आवरणसे ढका हुआ है, किन्तु एक दिन जब उनकी नींद टूटेगी, ये सब नर-नारी एक साथ एक दिन जब आँखें खोलकर जाग उठेंगे, उस दिन इनकी अधीनताकी जंजीर—वह चाहे जितनी मोटी और भारी क्यों न हो—खुलकर गिर पड़नेमें घड़ी-भरकी भी देर न लगेगी; उसमें बाधा देनेकी शक्ति किसीमें नहीं है।

आज हममेंसे बहुतोंकी ही नींद टूट गई है। मुझे विश्वास है कि इस समय देशमें ऐसा एक भी भारतवासी नहीं है जो इस प्राचीन पवित्र मातृभूमिके नष्ट गौरव और विलुप्त सम्मानको फिरसे जीता-जागता न देखना चाहे। लेकिन चाहनेसे ही तो कोई चीज़ नहीं मिल जाती, उसके पानेका उपाय करना होता है। इसी उपायके रास्तेमें सारी बाधा, सारे विघ्न, सारे मतभेद हैं और इसी स्थानपर एक वस्तुको अपने चिर जीवनका परम सत्य समझकर ग्रहण करने—उसका सहारा लेनेके लिए मैं तुम लोगोंसे अनुरोध करता हूँ। यह है केवल पराये अधिकारमें हस्तक्षेप न करना। जिसका जो दावा है, जो अधिकार है, वह उसे पाने दो, वह चाहे जहाँ और चाहे जिसका हो। यह मेरी पोथीमें पढ़ी हुई बात नहीं है, यह मेरी धार्मिक लोगोंके मुँहसे सुनी हुई तत्त्वकी बात

slave driver ! ” अर्थात् मैं अपनी जिंदगी-भर गुलामोंको हाँकनेवाला ही रहा। अपनी इस उक्तिके भीतर वह कितनी बड़ी ग्लानि प्रकट कर गये हैं, इसे केवल जगदीश्वर ही जानते हैं।

अपने जीवनमें बहुत दिन तक मैंने Sociology (समाजशास्त्र) का अध्ययन किया है। देशकी प्रायः सभी जातियोंको घनिष्ठ भावसे देखनेका सुयोग मुझे मिला है। मुझे जान पड़ता है, जिन्होंने स्त्रियोंके अधिकारको जितना कम किया है, ठीक उसी अनुपातसे वे क्या आर्थिक और क्या नैतिक सभी तरफसे छोटे हो गये हैं और इसकी उलटी दिशा भी वैसे ही सत्य है। अर्थात् जो जाति जितना ही संशय और अविश्वासका वर्जन करनेमें जितना समर्थ हुई है, जिन लोगोंने नारीके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताके प्रवाहको जितना मुक्त कर दिया है, उनकी पराधीनताकी जंजीर भी उतनी ही खुल गई है। इतिहासकी ओर आँख उठाकर देखो। इस पृथ्वीपर ऐसा एक भी देश न मिलेगा, जिस देशके लोगोंने नारियोंके मनुष्य होनेकी स्वाधीनताका अपहरण नहीं किया, फिर भी उनके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताको दूसरी कोई प्रबल जाति छीनकर जोर करके उन्हें अपने अधीन रख सकी हो। कहीं भी नहीं रख सकी, रख भी नहीं सकती, जान पड़ता है, भगवानका यह आईन ही नहीं है। हमारे अपने स्वाधीनताके प्रयत्नमें आज ठीक यही आशंका हमारी छातीके ऊपर सिल्की तरह बैठी है। जान पड़ता है, हमें यह कठिन काम सब कामोंके पहले करनेको बाकी रह गया है, जिसकी अँगरेजके साथ कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। कोई अगर कहे कि एशियामें ऐसे और देश भी तो हैं, जिन्होंने स्त्रियोंको रत्तीभर भी स्वाधीनता नहीं दी, पर उनकी स्वाधीनताका अपहरण किसीने नहीं किया। अपहरण करेगा ही, यह बात मैं भी नहीं कहता। तो भी मैं यह बात कहता हूँ कि उनकी जो स्वाधीनता आज भी बनी हुई है, वह बिल्कुल ही भाग्यके जोरसे। भाग्यबल न रहने पर अगर कभी यह वस्तु चली जाय तो हम लोगोंकी ही तरह केवल मात्र देशके पुरुषोंका दल कंधा देकर इस भारी बोझको सुईकी नोक भर भी टससे मस न कर सकेगा। केवल तत्कालकी दृष्टिसे इस सत्यका व्यत्यय (उलट-पुलट) बर्मा देशमें देख पड़ता है। आज वह देश पराधीन है। एक दिन उस देशमें नारीकी स्वाधीनता असीम थी। किन्तु

जिस दिनसे पुरुषोंने इस स्वाधीनताकी मर्यादाको लाँघना शुरू किया उसी दिनसे, एक ओर जैसे वे आप अकर्मण्य, विलासी और हीन होने लगे वैसे ही दूसरी ओर नारीमें भी स्वेच्छाचारिता—मनमानी—शुरू हो गई और उसी दिनसे देशका अधःपतन होने लगा। मैं इन लोगोंके अनेक शहरों, अनेक गाँवों, अनेक छोटे छोटे खेड़ोंमें बहुत दिनों तक घूमा फिरा हूँ। मैंने देख पाया है कि उनका बहुत कुछ चला गया है, किन्तु एक बडी चीज़ उन्होंने अब भी नहीं गँवाई। केवल नारियोंके सतीत्वको एक अत्यावश्यक वस्तु बनाकर उनकी स्वाधीनताको उनके भले होनेके मार्गको काँटोंसे रूँध नहीं दिया। इसीसे आज भी देशका रोजगार-धंधा, आज भी देशका धर्म कर्म, आज भी देशका आचार-व्यवहार वहाँ स्त्रियोंके हाथमें है। आज भी उनकी नव्वे प्रतिशत स्त्रियाँ लिखना-पढ़ना जानती हैं, और इसीसे आज भी हमारे इस अभागे देशकी तरह उनके देशसे आनन्द नामकी वस्तु एकदम निर्वासित नहीं हुई। यह सच है कि आज उनका सारा देश अज्ञता, जड़ता और मोहके आवरणसे ढका हुआ है, किन्तु एक दिन जब उनकी नींद टूटेगी, ये सब नर-नारी एक साथ एक दिन जब आँखें खोलकर जाग उठेंगे, उस दिन इनकी अधीनताकी जंजीर—वह चाहे जितनी मोटी और भारी क्यों न हो—खुलकर गिर पड़नेमें घड़ी-भरकी भी देर न लगेगी; उसमें बाधा देनेकी शक्ति किसीमें नहीं है।

आज हममेंसे बहुतोंकी ही नींद टूट गई है। मुझे विश्वास है कि इस समय देशमें ऐसा एक भी भारतवासी नहीं है जो इस प्राचीन पवित्र मातृभूमिके नष्ट गौरव और विलुप्त सम्मानको फिरसे जीता-जागता न देखना चाहे। लेकिन चाहनेसे ही तो कोई चीज़ नहीं मिल जाती, उसके पानेका उपाय करना होता है। इसी उपायके रास्तेमें सारी बाधा, सारे विघ्न, सारे मतभेद हैं और इसी स्थानपर एक वस्तुको अपने चिर जीवनका परम सत्य समझकर ग्रहण करने—उसका सहारा लेनेके लिए मैं तुम लोगोंसे अनुरोध करता हूँ। वह है केवल पराये अधिकारमें हस्तक्षेप न करना। जिसका जो दावा है, जो अधिकार है, वह उसे पाने दो, वह चाहे जहाँ और चाहे जिसका हो। यह मेरी पोथीमें पढ़ी हुई बात नहीं है, यह मेरी धार्मिक लोगोंके मुँहसे सुनी हुई तत्त्वकी बात

slave driver ! " अर्थात् मैं अपनी जिंदगी-भर गुलामोंको हाँकनेवाला ही रहा। अपनी इस उक्तिके भीतर वह कितनी बड़ी ग्लानि प्रकट कर गये हैं, इसे केवल जगदीश्वर ही जानते हैं।

अपने जीवनमें बहुत दिन तक मैंने Sociology (समाजशास्त्र) का अध्ययन किया है। देशकी प्रायः सभी जातियोंको घनिष्ठ भावसे देखनेका सुयोग मुझे मिला है। मुझे जान पड़ता है, जिन्होंने स्त्रियोंके अधिकारको जितना कम किया है, ठीक उसी अनुपातसे वे क्या आर्थिक और क्या नैतिक सभी तरफसे छोटे हो गये हैं और इसकी उलटी दिशा भी वैसे ही सत्य है। अर्थात् जो जाति जितना ही सशय और अविश्वासका वर्जन करनेमें जितना समर्थ हुई है, जिन लोगोंने नारीके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताके प्रवाहको जितना मुक्त कर दिया है, उनकी पराधीनताकी जजीर भी उतनी ही खुल गई है। इतिहासकी ओर आँख उठाकर देखो। इस पृथ्वीपर ऐसा एक भी देश न मिलेगा, जिस देशके लोगोंने नारियोंके मनुष्य होनेकी स्वाधीनताका अपहरण नहीं किया, फिर भी उनके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताको दूसरी कोई प्रबल जाति छीनकर जोर करके उन्हें अपने अधीन रख सकी हो। कहीं भी नहीं रख सकी, रख भी नहीं सकती, जान पड़ता है, भगवानका यह आईन ही नहीं है। हमारे अपने स्वाधीनताके प्रयत्नमें आज ठीक यही आशका हमारी छातीके ऊपर सिल्की तरह बैठी है। जान पड़ता है, हमें यह कठिन काम सब कामोंके पहले करनेको बाकी रह गया है, जिसकी अँगरेजके साथ कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। कोई अगर कहे कि एशियामें ऐसे और देश भी तो हैं, जिन्होंने स्त्रियोंको रत्तीभर भी स्वाधीनता नहीं दी, पर उनकी स्वाधीनताका अपहरण किसीने नहीं किया। अपहरण करेगा ही, यह बात मैं भी नहीं कहता। तो भी मैं यह बात कहता हूँ कि उनकी जो स्वाधीनता आज भी बनी हुई है, वह बिल्कुल ही भाग्यके जोरसे। भाग्यबल न रहने पर अगर कभी यह वस्तु चली जाय तो हम लोगोंकी ही तरह केवल मात्र देशके पुरुषोंका दल कधा देकर इस भारी बोझको सुईकी नोक भर भी उससे मस न कर सकेगा। केवल तत्कालकी दृष्टिसे इस सत्यका व्यत्यय (उलट-पुलट) बर्मा देशमें देख पड़ता है। आज वह देश पराधीन है। एक दिन उस देशमें नारीकी स्वाधीनता असीम थी। किन्तु

जिस दिनसे पुरुषोंने इस स्वाधीनताकी मर्यादाको लाँघना शुरू किया उसी दिनसे, एक ओर जैसे वे आप अकर्मण्य, विलासी और हीन होने लगे वैसे ही दूसरी ओर नारीमें भी स्वेच्छाचारिता—मनमानी—शुरू हो गई और उसी दिनसे देशका अधःपतन होने लगा। मैं इन लोगोंके अनेक शहरों, अनेक गाँवों, अनेक छोटे छोटे खेड़ोंमें बहुत दिनों तक घूमा फिरा हूँ। मैंने देख पाया है कि उनका बहुत कुछ चला गया है, किन्तु एक बड़ी चीज़ उन्होंने अब भी नहीं गँवाई। केवल नारियोंके सतीत्वको एक अत्यावश्यक वस्तु बनाकर उनकी स्वाधीनताको उनके भले होनेके मार्गको काँटोंसे रूँध नहीं दिया। इसीसे आज भी देशका रोजगार-धंधा, आज भी देशका धर्म कर्म, आज भी देशका आचार-व्यवहार वहाँ स्त्रियोंके हाथमें है। आज भी उनकी नब्बे प्रतिशत स्त्रियाँ लिखना-पढ़ना जानती हैं, और इसीसे आज भी हमारे इस अभागे देशकी तरह उनके देशसे आनन्द नामकी वस्तु एकदम निर्वासित नहीं हुई। यह सच है कि आज उनका सारा देश अज्ञता, जड़ता और मोहके आवरणसे ढका हुआ है, किन्तु एक दिन जब उनकी नींद टूटेगी, ये सब नर-नारी एक साथ एक दिन जब आँखें खोलकर जाग उठेंगे, उस दिन इनकी अधीनताकी जंजीर—वह चाहे जितनी मोटी और भारी क्यों न हो—खुलकर गिर पड़नेमें घड़ी-भरकी भी देर न लगेगी; उसमें बाधा देनेकी शक्ति किसीमें नहीं है।

आज हममेंसे बहुतोंकी ही नींद टूट गई है। मुझे विश्वास है कि इस समय देशमें ऐसा एक भी भारतवासी नहीं है जो इस प्राचीन पवित्र मातृभूमिके नष्ट गौरव और विलुप्त सम्मानको फिरसे जीता-जागता न देखना चाहे। लेकिन चाहनेसे ही तो कोई चीज़ नहीं मिल जाती, उसके पानेका उपाय करना होता है। इसी उपायके रास्तेमें सारी बाधा, सारे विघ्न, सारे मतभेद हैं और इसी स्थानपर एक वस्तुको अपने चिर जीवनका परम सत्य समझकर ग्रहण करने—उसका सहारा लेनेके लिए मैं तुम लोगोंसे अनुरोध करता हूँ। यह है केवल पराये अधिकारमें हस्तक्षेप न करना। जिसका जो दावा है, जो अधिकार है, वह उसे पाने दो, वह चाहे जहाँ और चाहे जिसका हो। यह मेरी पोथीमें पढ़ी हुई बात नहीं है, यह मेरी धार्मिक लोगोंके मुँहसे सुनी हुई तत्त्वकी बात

नहीं है—यह मेरा लम्बे जीवनका बार-बार ठगाकर सीखा हुआ सत्य है। मैं केवल इतना सा देकर ही जटिल समस्याकी आज भी मीमांसा करता हूँ। अगर नारी मनुष्य है और स्वाधीनतामें, धर्ममें, ज्ञानमें मनुष्यका दावा होना मैं स्वीकार करता हूँ तो वह दावा मुझे मंजूर करना ही होगा, उसका फल चाहे जो हो। भंगी-डोमको मैं अगर मनुष्य बनानेके लिए बाध्य हूँ और अगर यह मानता हूँ कि मनुष्यको उन्नति करनेका अधिकार है, तो उसके लिए मुझको राह छोड़ देनी ही होगी, फिर वह चाहे जहाँ जाकर पहुँचे। मैं बेकारकी जिम्मेदारी अपने सिर लेकर और किसी कारणसे उन लोगोंका हित करने नहीं जाता। मैं यह नहीं कहता कि बच्ची, तुम औरत जाति हो, तुमको यह नहीं करना चाहिए, यह नहीं कहना चाहिए, वहाँ जाना न चाहिए—तुम अपनी भलाई नहीं समझतीं, इसीसे मैं तुम्हारी भलाईके लिए तुम्हारे मुँहपर पर्दा और पैरोंमें बेड़ी डाले रखता हूँ। तुमसे भी बुलाकर नहीं कहता कि भैया, तुम जब डोमके घर उत्पन्न हुए हो—डोम हो, तब इससे अधिक चलना फिरना तुम्हारे लिए अच्छा या मंगलप्रद नहीं है, इसलिए इस घेरेके बाहर पैर बढ़ाते ही मैं तुम्हारा पैर तोड़ दूँगा।

मैं कहता हूँ, जिसका जो दावा या अधिकार है, उसे वह सोलह आने ले। और गल्ती करना अगर मनुष्यके कामका ही एक अंश है, तो अगर वह भूल-चूक करे तो उसमें आश्चर्यकी ही क्या बात है! मैं दो-एक सलाह दे सकता हूँ, किन्तु मार पीटकर, हाथ-पैरसे लूला-लँगड़ा करके, उसका भला करना ही होगा, इतनी बड़ी जिम्मेदारी मेरी नहीं है। मैं अपने भीतर इतना अधिक अध्यवसाय ढूँढे नहीं पाता। बल्कि जान पड़ता है, वास्तवमें मुझ जैसे आल्सी काहिल आदमी अगर दुनियामें दूसरे आदमियोंकी हिताकांक्षा कुछ कम करते, तो वे भी आरामसे रहते और दूसरे लोगोंका यथार्थ कल्याण भी शायद थोड़ा बहुत होनेकी जगह पाता। देशका काम, देशका मंगल करनेके लिए खड़े होते समय तुम लोग मेरी यह बात न भूलो।

आज तुम लोगोंके आगे और भी बहुत-सी बातें कहनेको थीं। जैसे—सब ओरसे किस तरह सारा देश जीर्ण-जर्जर होता जा रहा है, देशकी जो रीढ़ हैं, वे ही भद्र गृहस्थ-परिवार कैसे, कहाँ, धीरे-धीरे लुप्त होते जाते हैं, वह आनन्द नहीं है, वह प्राण या जिंदादिली नहीं है,

वह धर्म नहीं है, वह खाना पहरना नहीं है; समृद्ध भरे-पूरे प्राचीन गाँव आज प्रायः उजाड़ जनशून्य नजर आते हैं—बड़ी बड़ी महल जैसी इमारतोंमें सियार-कुत्ते वास करते हैं; पीडित, निर्बोध, मृतकल्प लोग जो वहाँ आज भी पड़े हैं, उनकी आहार और जलके अभावसे कैसी दशा हो रही है, इन सब हजारों दुःखोंकी कहानी तुम लोगोंके तरुण हृदयके सामने उपस्थित करनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी, किन्तु अबकी मुझे समय नहीं मिला। तुम लौट आओ; तुम्हारे अध्यापक अगर मुझे भूल न गये तो मैं और एक दिन तुम्हें सुनाऊँगा। *

देशबन्धु चित्तरंजन

संस्मरण

जान पड़ता है, पराधीन देशका सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि मुक्ति-संग्राममें विदेशियोंकी अपेक्षा देशके आदमियोंके साथ ही मनुष्यको अधिक लड़ना पड़ता है। इस लड़ाईका प्रयोजन जिस दिन समाप्त हो जाता है, बेड़ियाँ आप ही खुलकर गिर जाती हैं। किन्तु लड़ाईका प्रयोजन समाप्त नहीं हुआ, देशबन्धु परलोकको चले गये। घर और बाहर लगातार युद्ध करनेके भारी भारको उनकी चोट खाई हुई घायल और बहुत ही थकी हुई देह आगे वहन नहीं कर सकी।

आज चारों ओर रोनेका आर्तनाद उठ रहा है; ठीक इतने बड़े रुदनकी ही आवश्यकता थी।

उनकी जिंदगीके दिन इतनी जल्दी समाप्त होते आ रहे हैं, यह बात हम लोग जानते थे और वे स्वयं भी जानते थे।

उस दिन पटना जानेके पहले उन्होंने मुझे बुला भेजा। अस्वस्थताके कारण चारपाईपर पड़े थे। मेरे पास जाकर बैठते ही बोले—अबकी final (आखिरी) है शरत् बाबू।

---

* बँगला सन् १३२८ के पौष मासमें शिवपुर इन्स्टीटयूटमें पठित भाषण

नहीं है—यह मेरा लम्बे जीवनका बार-बार ठगाकर सीखा हुआ सत्य है। मैं केवल इतना-सा टेकर ही जटिल समस्याकी आज भी मीमांसा करता हूँ। अगर नारी मनुष्य है और स्वाधीनतामें, धर्ममें, ज्ञानमें मनुष्यका दावा होना मैं स्वीकार करता हूँ तो वह दावा मुझे मजूर करना ही होगा, उसका फल चाहे जो हो। भंगी डोमको मैं अगर मनुष्य बनानेके लिए बाध्य हूँ और अगर यह मानता हूँ कि मनुष्यको उन्नति करनेका अधिकार है, तो उसके लिए मुझको राह छोड़ देनी ही होगी, फिर वह चाहे जहाँ जाकर पहुँचे। मैं बेकारकी जिम्मेदारी अपने सिर लेकर और किसी कारणसे उन लोगोंका हित करने नहीं जाता। मैं यह नहीं कहता कि बच्ची, तुम औरत जाति हो, तुमको यह नहीं करना चाहिए, यह नहीं कहना चाहिए, वहाँ जाना न चाहिए—तुम अपनी भलाई नहीं समझतीं; इसीसे मैं तुम्हारी भलाईके लिए तुम्हारे मुँहपर पर्दा और पैरोंमें बेड़ी डाले रखता हूँ। तुमसे भी बुलाकर नहीं कहता कि भैया, तुम जब डोमके घर उत्पन्न हुए हो—डोम हो, तब इससे अधिक चलना-फिरना तुम्हारे लिए अच्छा या मंगलप्रद नहीं है, इसलिए इस घेरेके बाहर पैर बढ़ाते ही मैं तुम्हारा पैर तोड़ दूँगा।

मैं कहता हूँ, जिसका जो दावा या अधिकार है, उसे वह सोलह आने ले। और गलती करना अगर मनुष्यके कामका ही एक अंश है, तो अगर वह भूल-चूक करे तो उसमें आश्चर्यकी ही क्या बात है! मैं दो-एक सलाह दे सकता हूँ, किन्तु मार-पीटकर, हाथ-पैरसे लूला लँगड़ा करके, उसका भला करना ही होगा, इतनी बड़ी जिम्मेदारी मेरी नहीं है। मैं अपने भीतर इतना अधिक अध्यवसाय ढूँढे नहीं पाता। बल्कि जान पड़ता है, वास्तवमें मुझ जैसे आलसी काहिल आदमी अगर दुनियामें दूसरे आदमियोंकी हिताकांक्षा कुछ कम करते, तो वे भी आरामसे रहते और दूसरे लोगोंका यथार्थ कल्याण भी शायद थोड़ा बहुत होनेकी जगह पाता। देशका काम, देशका मंगल करनेके लिए खड़े होते समय तुम लोग मेरी यह बात न भूलो।

आज तुम लोगोंके आगे और भी बहुत-सी बातें कहनेको थीं। जैसे—सब ओरसे किस तरह सारा देश जीर्ण-जर्जर होता जा रहा है, देशकी जो रीढ़ हैं, वे ही भद्र गृहस्थ-परिवार कैसे, कहाँ, धीरे-धीरे लुप्त होते जाते हैं, वह आनन्द नहीं है, वह प्राण या जिंदादिली नहीं है,

मैंने कहा—आप तो कह चुके हैं कि स्वराज अपनी आँखोंसे देखकर जाइएगा ?

क्षणभर चुप रहकर बोले—उसके लिए समय नहीं मिला ।

वह जिस समय जेलमें थे, तब कुछ आदमी जेलखानेकी दीवारको प्रणाम कर रहे थे । पूछनेपर उन्होंने कहा था कि हमारे देशबन्धु इस जेलके भीतर हैं । उनको आँखोंसे देखनेका तो उपाय नहीं है, इससे हम जेलकी दीवारको ही प्रणाम करते हैं । यह बात देशबन्धुने सुनी थी । मैंने वही स्मरण कराकर कहा—ये लोग आपको कैसे छोड़ देंगे ? उनकी आँखोंमें आँसू भर आये । थोड़ी देरमें अपनेको सँभाल कर उन्होंने और बात छेड़ दी । लगभग २० मिनटके बाद डाक्टर दासगुप्त घरके कोनेसे मेरी मोटी लाठी उठा लाये और मेरे हाथमें थमा दी । देशबन्धुने हँसकर कहा—इशारा समझ गये शरत् बाबू ? ये लोग हमें थोड़ी-सी बातचीत भी नहीं करने देना चाहते ।

उस बातचीतका फिर हमें अवसर ही नहीं मिला ।

लोग कहते हैं—इतना बड़ा दाता, इतना बड़ा त्यागी हमने नहीं देखा । दान हाथ फैलाकर लिया जाता है, त्याग आँखोंसे देखा जाता है, यह सहजमें किसीकी दृष्टिसे नहीं छिपता ।

किन्तु हृदयका निगूढ वैराग्य ? वास्तवमें सब प्रकारके कर्मोंके भीतर रहकर भी इतना बड़ा विरक्त निर्लिप्त मैंने और कोई नहीं देखा । जिसे ऐश्वर्यसे प्रयोजन न था, जो धन-सम्पत्तिके मूल्य या महत्त्वको किसी तरह समझ न पा सका, वह रुपये पैसेको दोनों हाथोंसे न लुटावेगा तो और कौन लुटावेगा ? एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था—लोग सोचते हैं, मैंने व्यक्ति-विशेषके प्रभावमें पड़कर झोंकमें आकर प्रैक्टिस (बैरिस्टरी) छोड़ दी है । वे नहीं जानते कि यह मेरी बहुत दिनोंकी दिली ख्वाहिश थी; केवल त्यागका बहाना करके छोड़ दी है । इच्छा थी कि कुछ थोड़ेसे रुपए पास रख लूँगा, किन्तु जब भगवानकी इच्छा नहीं है, तब यही मेरे लिए अच्छा है ।

किन्तु इस महान् त्यागके मूलमें और एक छिपा हुआ व्यक्ति है । वह हैं वासन्तीदेवी । एक दिन उर्मिलादेवी (दासबाबूकी बहन) ने मुझसे कहा था—दादाके इतने बड़े कामके भीतर जिस एक और आदमीका हाथ चुपचाप

काम करता है; वह हैं हमारी भाभी। नहीं तो दादा कितना क्या कर पाते, मुझे भारी सदेह है। वास्तवमें, असहयोग (नान-को-आपरेशन) का तो पहले-से ही बहुत कुछ देखा है, किन्तु सबके अलक्ष्यमें ऐसी आडम्बरहीन शान्त दृढता, ऐसा धैर्य, ऐसा सदाप्रसन्न स्निग्ध माधुर्य और कहीं मुझे नहीं देख पड़ा। अत्यन्त अस्वस्थ स्वामीको उस दिन, अन्तिम बार, कौंसिल-भवनमें उन्होंने ही भेजा था। डाक्टरोंको बुलाकर बोलीं—गाड़ी हो, स्ट्रेचर हो, जो कुछ हो सके, उसका बदोबस्त तुम लोग कर दो। उन्होंने जब जाना तय कर लिया है, तब पृथ्वीपर कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें रोक सके। वह पैदल जानेकी चेष्टा करेंगे, उसका फल यह होगा कि तुम लोग राहमें ही उनसे हाथ धो बैठोगे।

अथ च, वह आप साथ नहीं जा सकीं। राहकी ओर ताकती हुई सारे दिन चुपचाप बैठी रहीं। अँग्रेजीमें जिसे scene creat करना या तमाशा करना कहते हैं, उसीको वह सबसे अधिक डरती हैं। सब लोगोंकी आँखें अपनी ओर आकृष्ट होनेकी कल्पनासे ही वह सकुचित हो उठती हैं। आज इसीकी भारतको सबसे बड़ी जरूरत है। जबतक घर-घर ऐसी ही सती-लक्ष्मी न जन्म लेंगी, तबतक देशके स्वतंत्र होनेकी आशा बहुत दूर है।

आज चित्तरजनदासकी दीप्तिसे बगालका आकाश जगमगा उठा है। किन्तु दीपकका जो हिस्सा लौ बनकर लोगोंको दिखाई पड़ता है, उसके प्रज्ज्वलित होनेमें केवल उतना ही उसका सारा इतिहास नहीं है। इसीसे, जान पड़ता है, सन्यासी चित्तरजनको रिक्त (खाली) कर लेनेमे भगवानको जैसे दुविधा नहीं हुई, वैसे ही जब दिया था, तब देनेमें भी कोई कृपणता नहीं की।

आल इंडिया कांग्रेस कमेटीकी मीटिंगके उपलक्ष्यमें कहीं दूर पल्लेपर जानेका प्रयोजन होते ही मेरा न जाने कैसा दुर्भाग्य है कि जानेके ठीक पहले ही मैं किसी-न-किसी तरह सख्त बीमार पड जाता था। उस दफा दिल्ली जानेके पहले दिन देशबन्धुने मुझे बुलाकर कहा—कल उर्मिला भी आपके साथ जायँगी।

मैंने कहा—जो आज्ञा, यही होगा।

देशबन्धुने कहा—होगा तो जरूर, लेकिन सन्ध्याके बाद गाड़ीका समय है, कल तीसरे पहर तक आपकी तबियत खराब हो जायगी, ऐसा तो नहीं आपको जान पड़ता ?

मैंने कहा—स्पष्ट देख पड़ता है, मेरे शत्रुओंने आपके आगे मुझे बदनाम किया है।

उन्होंने कहा—सो किया तो है, लेकिन बिस्तरपर पड़ जाते हैं, इसकी गवाही और प्रमाण भी तो नहीं हैं।

मुझे एक लड़केका किस्सा याद आगया। उस बेचारेने बी. ए. तक पढ़कर भी नौकरी नहीं पाई। बड़े बाबूके पास दरख्वास्त करनेपर उन्होंने नाराज होकर कहा कि मैंने जिसे नौकरी दी है, उसकी योग्यता अधिक है, वह बी० ए० फेल है।

उसके प्रत्युत्तरमें लड़केने विनयपूर्वक निवेदन किया—जी, परीक्षा देनेपर क्या मैं उसकी तरह फेल भी न कर सकता !

मैंने भी देशबन्धुसे कहा—मेरी योग्यता कम है, वे मेरी निंदा करते हैं यह जानता हूँ, लेकिन यह अपवाद भी मैं किसी तरह चुपचाप नहीं मान ले सकूँगा कि मुझमें सोते रहनेकी भी योग्यता नहीं है।

देशबन्धुने हँसकर कहा—ना, आप नाराज न हों, आपकी इस योग्यताको वे मुक्तकंठसे स्वीकार करते हैं।

गया-कांग्रेससे लौटकर भीतरी मतभेद और मनोमालिन्यसे जब हमारे चारों ओर बादल घिर उठे, इस बंगदेशमें जितने अँगरेजी और बंगलाके अखबार हैं, लगभग उन सभीने गला मिलाकर समान स्वरसे उनका स्तुति-गान शुरू कर दिया, तब उनको अकेले ही भारतके एक छोरसे दूसरे छोर तक जिस तरह युद्ध करते घूमते मैंने देखा है, उसकी तुलना, मैं समझता हूँ, जगत्के इतिहासमें नहीं है। एक दिन मैंने उनसे पूछा था—संसारमें कोई भी विरुद्ध अवस्था क्या आपको दबा नहीं सकती ? देशबन्धुने जरा हँसकर कहा था—तो फिर क्या मेरी जान बचती ? पराधीनताकी जो आग इस हृदयके भीतर दिन-रात जलती है, वह तो घड़ी भरमें ही मुझे भस्म कर देती।

साथी नहीं हैं, धन नहीं है, हाथमें एक अखबार नहीं है; जो लोग बहुत छोटे हैं, वे भी गाली-गलौजके बिना बात नहीं करते; देशबन्धुकी वह कैसी अवस्था थी! धनके अभावसे हम लोग अस्थिर हो उठते थे, केवल अस्थिर नहीं होते थे वह स्वयं।

एक दिनकी बात याद आती है। उस समय रातके नव या दस बजे होंगे। बाहर पानी बरस रहा था और मैं, सुभाष (नेताजी) और वह, सियालदहके पास एक बड़े आदमीके बैठक-खानेमें चन्देमें कुछ रुपए पानेकी आशासे बैठे हुए थे। मैं झल्लाकर कह उठा—गरज क्या एक आपकी ही है? देशके आदमी अगर सहायता करनेमें इतने विमुख हो उठे हैं तो रहने दीजिए।

मेरा मन्तव्य सुनकर जान पड़ता है, देशबन्धुके मनपर चोट पहुँची। बोले—यह ठीक नहीं है शरत् बाबू। दोष हम लोगोंका ही है। हम लोग ही काम करना नहीं जानते। हम लोग ही उनसे अपनी बात समझाकर नहीं कह पाते। बंगाली जाति भावुक है, बंगाली कृपण नहीं हैं। एक दिन वे जब समझेंगे, तब अपना सर्वस्व लाकर हमारे हाथमें सौंप देंगे।—ये सब बातें कहते-कहते उत्तेजनासे उनकी आँखें चमक उठीं। इस बंगाल देश और यहाँके लोगोंको वह कितना प्यार करते थे, कितना विश्वास करते थे! जैसे किसी तरह उनकी कोई त्रुटि वह नहीं खोज पाते थे।

इस बातका उत्तर और क्या था। मैं चुप हो गया। किन्तु आज जान पड़ता है, वास्तवमें इतना प्यार किये बिना यह असीम शक्ति ही वह भला कहाँसे पाते? लोग रोते हैं—महापुरुषके लिए देशके लोग इससे पहले और भी अनेक बार रोये हैं—उस रोनेको मैं पहचानता हूँ। किन्तु यह रोना वह रोना नहीं है। अत्यन्त प्रिय, बिल्कुल ही अपने आदमीके लिए मनुष्यके हृदयके भीतर जैसी शोककी आग जलती है, यह वही है। और हम, जो उनके आसपास रहते थे, हमारे पास तो वह भयानक दुःख प्रकट करनेकी भाषा भी नहीं है, और दूसरोंको जताना अच्छा भी नहीं लगता। हम लोगोंमेंसे बहुतोंके मनसे देशका काम करनेकी धारणा जैसे धीरे धीरे अस्पष्ट हो गई थी। हम करते थे देशबन्धुका काम। आज वह नहीं हैं, इसीसे रह-रह कर यही खयाल मनमें

आता है कि अब काम करके क्या होगा! उनके सभी आदेश क्या हमारे मनके माफिक होते थे? हाय रे, हमारे नाराज होनेकी, रूठनेकी जगह भी आज जाती रही! देशबन्धु जहाँ और जिसपर विश्वास करते थे, उनका वह विश्वास असीम होता था। उसके बारेमें वह जैसे एकदम आँखें बन्द कर लेते थे। इसके कारण हम लोगोंकी बहुत क्षति हुई है, किन्तु हजार प्रमाण देने पर भी उनके इस विश्वासको विचलित करनेका उपाय न था।

उस दिन बरीसालकी राहमें स्टीमरपर था। केबिनके भीतर रोशनी बुझी हुई थी। मैंने समझा था कि पासके बिछौनेपर देशबन्धु सो गये हैं। बहुत रात बीते एकाएक उन्होंने पुकारकर कहा— शरत् बाबू, क्या सो गये?

मैंने कहा—जी नहीं।

उन्होंने कहा—तो चलो, डेकपर चलकर बैठें।

मैंने कहा—वहाँ तो उड़नेवाले कीड़ोंका भयानक उत्पात है।

देशबन्धुने हँसकर कहा— बिछौनेपर सोकर छटपटानेकी अपेक्षा वह कहीं अच्छा है—सुगमतासे सहा जा सकता है। चलिए।

दोनों जने डेकपर आकर बैठे। चारों ओर घना अँधेरा था। बादलोंसे घिरे हुए आकाशमें, जहाँ जहाँ बादलोंमें फाँक थी, वहाँ वहाँ बीच-बीचमें तारे दिखाई देते थे। नदीके असख्य टेढ़े-मेढ़े मोड़ोंमें घूम-फिरकर स्टीमर चला जा रहा था। उसकी दूरतक फैली हुई सर्चलाइटकी रोशनी कभी किनारेपर बँधी नावोंकी छतपर, कभी वृक्षोंकी चोटीपर, कभी मल्लाहोंकी झोंपड़ियोंके ऊपरी हिस्सेपर जाकर पड़ रही थी। देशबन्धु बहुत देरतक चुपचाप सन्नाटेमें बैठे रहनेके बाद एकाएक कह उठे— शरत्बाबू, नदीमातृक * शब्दका सच्चा अर्थ क्या है, इस बातको वे लोग जानते ही नहीं, जिन्होंने इस देशमें जन्म नहीं लिया। यह हम लोगोंको चाहिए ही चाहिए।

देशबन्धुकी इस बातका मतलब मैं समझा, किन्तु चुप रहा। इसके बाद वह आप ही आप अकेले कितनी ही बातें कहते गये। मैं चुप बैठा रहा। उत्तर

---

* नदीमातृकका अर्थ है नदियाँ जिस देशका पालन-पोषण माताकी तरह करती हैं।

देनेका प्रयोजन न था; कारण, वे सब प्रश्न नहीं, एक भाव या उद्गार थे। न जाने किस कारणसे उनका कवि-हृदय उमड़ पड़ा था।

एकाएक उन्होंने पूछा—आप चरखेपर विश्वास करते हैं?

मैंने कहा—आप जिस विश्वासका इशारा कर रहे हैं, वह विश्वास मैं नहीं करता।

देशबन्धुने कहा—क्यों नहीं करते?

मैंने कहा—जान पड़ता है, बहुत दिनों बहुत चरखा कातनेके कारण।

देशबन्धुने क्षणभर चुप रहकर कहा—इस भारतवर्षके तीस करोड़ लोगोंमें अगर पाँच करोड़ आदमी भी सूत कातने लगें तो साठ करोड़ रुपयेका सूत तैयार हो सकता है।

मैंने कहा—हो सकता है। दस लाख आदमी मिलकर एक घरके बनानेमें हाथ लगावें तो डेढ़ सेकिंडमें घर बनकर तैयार हो सकता है। हो सकता है, आप विश्वास करते हैं?

देशबंधुने कहा—ये दोनों एक चीज नहीं है। लेकिन मैं आपका मतलब समझ गया। वही 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी' कहावत। लेकिन तो भी मैं विश्वास करता हूँ। मेरी बड़ी इच्छा होती है कि चरखा कातना सीखूँ; किन्तु मुश्किल यह है कि हाथके किसी भी काममें मेरी कोई पटुता नहीं है।

मैंने कहा—भगवान् आपकी रक्षा करें।

देशबन्धु हँसे। बोले—आप हिन्दू-मुसलिम एकतापर विश्वास करते हैं?

मैंने कहा—नहीं।

देशबन्धु बोले—आपकी मुसलिम-प्रीति बहुत प्रसिद्ध है।

मैंने कहा—मनुष्यकी कोई भी अच्छी इच्छा गुप्त रहनेका उपाय नहीं है। मेरी यह ख्याति इतने बड़े आदमीके भी कानोंतक आकर पहुँच गई है! किन्तु अपनी प्रशंसा सुनकर मुझे सदैव लज्जा लगती है, इसीसे विनयके साथ मैंने सिर झुका लिया।

आता है कि अब काम करके क्या होगा! उनके सभी आदेश क्या हमारे मनके माफिक होते थे? हाय रे, हमारे नाराज होनेकी, रूठनेकी जगह भी आज जाती रही! देशबन्धु जहाँ और जिसपर विश्वास करते थे, उनका वह विश्वास असीम होता था। उसके बारेमें वह जैसे एकदम आँखें बन्द कर लेते थे। इसके कारण हम लोगोंकी बहुत क्षति हुई है, किन्तु हजार प्रमाण देने पर भी उनके इस विश्वासको विचलित करनेका उपाय न था।

उस दिन बरीसालकी राहमें स्टीमरपर था। केबिनके भीतर रोशनी बुझी हुई थी। मैंने समझा था कि पासके बिछौनेपर देशबन्धु सो गये हैं। बहुत रात बीते एकाएक उन्होंने पुकारकर कहा— शरत् बाबू, क्या सो गये?

मैंने कहा—जी नहीं।

उन्होंने कहा—तो चलो, डेकपर चलकर बैठे।

मैंने कहा—वहाँ तो उड़नेवाले कीड़ोंका भयानक उत्पात है।

देशबन्धुने हँसकर कहा— बिछौनेपर सोकर छटपटानेकी अपेक्षा वह कहीं अच्छा है—सुगमतासे सहा जा सकता है। चलिए।

दोनों जने डेकपर आकर बैठे। चारों ओर घना अँधेरा था। बादलोंसे घिरे हुए आकाशमें, जहाँ जहाँ बादलोंमें फाँक थी, वहाँ वहाँ बीच-बीचमें तारे दिखाई देते थे। नदीके असख्य टेढ़े-मेढ़े मोड़ोंमें घूम-फिरकर स्टीमर चला जा रहा था। उसकी दूरतक फैली हुई सर्चलाइटकी रोशनी कभी किनारेपर बँधी नावोंकी छतपर, कभी वृक्षोंकी चोटीपर, कभी मल्लाहोंकी झोंपड़ियोंके ऊपरी हिस्सेपर जाकर पड़ रही थी। देशबन्धु बहुत देरतक चुपचाप सन्नाटेमें बैठे रहनेके बाद एकाएक कह उठे— शरत्बाबू, नदीमातृक * शब्दका सच्चा अर्थ क्या है, इस बातको वे लोग जानते ही नहीं, जिन्होंने इस देशमें जन्म नहीं लिया। यह हम लोगोंको चाहिए ही चाहिए।

देशबन्धुकी इस बातका मतलब मैं समझा, किन्तु चुप रहा। इसके बाद वह आप ही आप अकेले कितनी ही बातें कहते गये। मैं चुप बैठा रहा। उत्तर

* नदीमातृकका अर्थ है नदियाँ जिस देशका पालन-पोषण माताकी तरह करती हैं।

देनेका प्रयोजन न था; कारण, वे सब प्रश्न नहीं, एक भाव या उद्गार थे। न जाने किस कारणसे उनका कवि-हृदय उमड़ पड़ा था।

एकाएक उन्होंने पूछा—आप चरखेपर विश्वास करते हैं ?

मैंने कहा—आप जिस विश्वासका इशारा कर रहे हैं, वह विश्वास मैं नहीं करता।

देशबन्धुने कहा—क्यों नहीं करते ?

मैंने कहा—जान पड़ता है, बहुत दिनों बहुत चरखा कातनेके कारण।

देशबन्धुने क्षणभर चुप रहकर कहा—इस भारतवर्षके तीस करोड़ लोगोंमें अगर पाँच करोड़ आदमी भी सूत कातने लगें तो साठ करोड़ रुपयेका सूत तैयार हो सकता है।

मैंने कहा—हो सकता है। दस लाख आदमी मिलकर एक घरके बनानेमें हाथ लगावें तो डेढ़ सेकिंडमें घर बनकर तैयार हो सकता है। हो सकता है, आप विश्वास करते हैं ?

देशबंधुने कहा—ये दोनों एक चीज नहीं है। लेकिन मैं आपका मतलब समझ गया। वही 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी' कहावत। लेकिन तो भी मैं विश्वास करता हूँ। मेरी बड़ी इच्छा होती है कि चरखा कातना सीखूँ; किन्तु मुश्किल यह है कि हाथके किसी भी काममें मेरी कोई पटुता नहीं है।

मैंने कहा—भगवान् आपकी रक्षा करे।

देशबन्धु हँसे। बोले—आप हिन्दू-मुसलिम एकतापर विश्वास करते हैं ?

मैंने कहा—नहीं।

देशबन्धु बोले—आपकी मुसलिम-प्रीति बहुत प्रसिद्ध है।

मैंने कहा—मनुष्यकी कोई भी अच्छी इच्छा गुप्त रहनेका उपाय नहीं है। मेरी यह ख्याति इतने बड़े आदमीके भी कानोंतक आकर पहुँच गई है ! किन्तु अपनी प्रशंसा सुनकर मुझे सदैव लज्जा लगती है, इसीसे विनयके साथ मैंने सिर झुका लिया।

देशबन्धुने कहा—किन्तु आप क्या बता सकते हैं कि इसके सिवा और क्या उपाय है ? इसी बीचमें वे (मुसलमान) संख्यामें पचास लाख बढ़ गये हैं, और दस वर्ष बाद क्या होगा, बताइए तो ?

मैंने कहा—यह यद्यपि ठीक मुसलिम-प्रीतिका निदर्शन नहीं है, अर्थात् दस वर्ष बाद क्या होगा, इसकी कल्पना करके आपका चेहरा जैसा सफेद हो उठा है, उससे तो मेरे साथ आपका बहुत अधिक अन्तर नहीं जान पड़ता। सो वह चाहे जो हो, केवल संख्या ही मेरे विचारमें बड़ी चीज नहीं है। अगर ऐसा ही होता—संख्याका ही महत्त्व होता—तो चार करोड़ अँगरेज डेढ़ सौ करोड़ लोगोंके सिरपर पैर रखकर संसारमें न घूम पाते। नमःशूद्र, माली, नट, राजवंशी, पोद आदिको समेट लीजिए, देशके बीच, दस आदमियोंके बीच इनका एक मर्यादाका स्थान निर्दिष्ट करके इन्हें मनुष्य बनाइए, स्त्री-जातिके प्रति जो अन्याय, निष्ठुर सामाजिक अविचार अर्सेसे चला आ रहा है, उसका प्रतिविधान कीजिए, फिर उधरकी संख्याके लिए आपको चिन्तित नहीं होना पड़ेगा।

नमःशूद्र आदि जातियोंकी लांछनाके जिक्रसे उनके हृदयमें जैसे बरछी लगती थी। किसीने एक बार उनसे कहा था कि 'देशबन्धु' शब्दका एक और अर्थ चाण्डाल है। यह सुनकर वह आनन्दसे उत्फुल्ल हो उठे थे। जान पड़ता है, वे स्वयं उच्च कुलमें पैदा हुए थे, इस लिए उच्च जातिके दिये हुए विनादोषके इस अपमानकी ग्लानिको उन निपीड़ित लोगोंके साथ समान भावसे भोग करनेके लिए उनका हृदय आकुल हो उठता था।

वह व्यग्र होकर कह उठे—आप लोग दया करके मुझे इस राजनीतिके जालसे निकाल दीजिए, मैं उन्हीं लोगोंके बीचमें जाकर रहूँ। तब मैं बहुत अधिक काम कर सकूँगा। इतना कहकर वह, इन लोगोंके प्रति बहुत लम्बे समयसे हिन्दू समाज कितने अत्याचार करता आ रहा है, उन्हींका वर्णन एक-एक करके करने लगे। बोले—बेचारोंके धोबी-नाई नहीं है। घर छानेवाले उनका घर नहीं छाते। परन्तु, ये ही जब मुसलमान या ईसाई हो जाते हैं, तब वे सब आकर खुशीसे इनका काम करने लगते हैं। अर्थात् हिन्दू ही प्रकारान्तरसे कहते हैं कि हिन्दूसे मुसलमान और ईसाई बड़े हैं।

इस तरहका senseless (अचेत) समाज न मरेगा तो कौन मरेगा? इतना कहकर बहुत देर तक स्थिर रहकर उन्होंने सहसा प्रश्न किया—आप हमारे अहिंस-असहयोगपर तो विश्वास करते हैं?

मैंने कहा—नहीं। अहिंस या स-हिंस, किसी असहयोगपर मुझे विश्वास नहीं है।

देशबन्धुने हँसकर कहा—अर्थात् मैं देखता हूँ, हम लोगोंमें कहीं लेशमात्र भी मतभेद नहीं है।

मैंने इसके उत्तरमें कहा—एक दिन लेकिन सचमुच ही लेशमात्र मतभेद नहीं रहेगा। मैं इसी आशामें हूँ। इस बीच जितनी शक्ति मुझमें है, आपका काम कर दूँ। और केवल मतको लेकर ही क्या होगा। वसन्त मजूमदार, श्रीश चट्टोपाध्याय, ये तो देशके बड़े काम करनेवाले हैं। किन्तु अँगरेजोंके प्रति वसन्त बाबूके विघूर्णित लाल नेत्रोंका अहिंस दृष्टिपात तथा श्रीश बाबूका प्रेम-सिक्त विद्वेष-विहीन बादलका-सा गर्जन—इन दोनों चीजोंको देखने-सुननेसे आपको भी सन्देह नहीं रहेगा कि महात्माजीके बाद अहिंस असहयोगको अगर कहीं रहनेके लिए स्थान मिला है तो इन्हीं दोनों मित्रोंके मनमे। अथ च, इतना अधिक काम भी भला कितने आदमियोंने किया है? असहयोग आन्दोलनकी सार्थकता तो गणसाधारण अर्थात् Mass (जनता) के कारण है? किन्तु इस मास (Mass) पदार्थके प्रति मुझमें कुछ अधिक या अतिरिक्त श्रद्धा नहीं है। ये एक दिनकी उत्तेजनामें एकाएक कुछ कर डाल भी सकते हैं; किन्तु लंबे समयकी सहिष्णुता इनमें नहीं है। उस दफे ये झुंडके झुंड जेल गये थे; किन्तु झुंडके झुंड क्षमा माँगकर वहाँसे लौट भी आये थे। जो नहीं आये, वे शिक्षित मध्यवित्त गृहस्थोंके लड़के थे। इसीसे मेरा सब आवेदन-निवेदन इन्हीं लोगोंके निकट है। त्यागके द्वारा अगर कोई किसी दिन देशको स्वाधीन कर सकेगा तो केवल ये ही कर सकेंगे।

जान पड़ता है, इस जगहपर देशबन्धुके हृदयमें एक छिपी हुई व्यथा थी। वह चुप हो रहे। किन्तु जेलके जिक्रसे उन्हें एक और भारी क्षोभकी बात याद आ गई। बोले—यह दुराशा मैंने कभी नहीं की कि देश एकदम एक छलागमें

+ बंगालकी अस्पृश्य अंत्यज जातियाँ

पूर्ण स्वाधीन हो जायगा। किन्तु मैं स्वराज्यकी एक सच्ची नींव डालना चाहता हूँ। मैं उस समय जेलके भीतर था, बाहर बड़े लाट वगैरह लोग, उधर साबरमती आश्रममें महात्माजी थे। उनकी किसी तरह राय नहीं हुई, हम लोगोंका इतना बड़ा सुयोग नष्ट हो गया। मैं जेलके बाहर होता तो किसी तरह इतनी बड़ी भूल न करने देता। भाग्य! भगवान्‌की लीला!

रात समाप्त होती आ रही थी। मैंने कहा—सोने न जाइएगा? चलिए।

'चलिए' कहकर वह उठ खड़े हुए।

मैंने पूछा—अच्छा, इन रेवोल्यूशनरियों (क्रान्तिकारियों) के बारेमें आपका यथार्थ मत क्या है?

सामनेका आकाश साफ होता जा रहा था। वह रेलिंग पकड़कर कुछ देर तक ऊपर ताकते रहे। फिर धीरे धीरे बोले—इनमेंसे बहुतोंको मैं बहुत प्यार करता हूँ, किन्तु इनका काम देशके लिए एकदम भयानक मारात्मक है। इस ऐक्टिविटी (हरकत) से देश कमसे कम पचीस वर्ष पिछड़ जायगा। इसके सिवा इसमें बहुत बड़ा दोष यह है कि स्वराज मिलनेके बाद भी यह चीज यहाँसे न जायगी। तब इसकी स्पर्द्धा और बढ़ जायगी, साधारणसे मतभेदमें एकदम सिविल-वार (गृहयुद्ध) छिड़ जायगा। खून-खराबी और मार-काटको मैं हृदयसे घृणा करता हूँ शरत्‌बाबू।

किन्तु ये बातें उन्होंने जब जितनी बार कहीं, अँगरेजी अखबारवालोंने विश्वास नहीं किया, हँसी उड़ाई, व्यंग विद्रूप किया। मगर मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ कि रात्रिशेषके झुटपटे आकाशके नीचे, नदीकी छातीपर खड़े होकर उनके मुँहसे सत्यके सिवा और कुछ भी नहीं निकला था।

बहुत दिनों बाद और एक दिन रातको ऐसी ही निष्कपट सत्य बात उनके मुँहसे निकलते मैंने सुनी है। उस समय शायद रातके आठ बजे होंगे, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय महाशयको उनके घर पहुँचाकर लौटकर आया तो देखा, देशबन्धु सीढ़ीके ऊपर चुपचाप खड़े हैं। मैंने कहा—एक बात कहूँगा, नाराज तो न होंगे?

उन्होंने कहा—ना।

मैंने कहा—बंगालमें आप जो कई यथार्थ बड़े लोग हैं, आप लोग परस्पर एक दूसरेको देखते ही जिस तरह पुलकित हो उठते हैं, शरीरमें रोमाच हो उठता है—'

देशबन्धुने हँसकर कहा—बिलावकी तरह ?

मैंने कहा—इस पापी मुखसे इस बातको मैं कैसे व्यक्त कर सकूँ ! किन्तु कुछ न होनेसे—

देशबन्धुका मुख गंभीर हो उठा। क्षणभर स्थिर रहकर धीरे-धीरे बोले—कितनी क्षति होती है, यह मुझसे अधिक कौन जानता है। कोई अगर इसकी राह कर दे सके तो मैं सबके नीचे, सबकी मातहतीमें काम करनेको राजी हूँ। लेकिन चकमा या ठगाई नहीं चलेगी शरत् बाबू।

उस दिन उनके मुखपर अकृत्रिम उद्वेगकी लिपि जो मैंने पढ़ी थी, वह कभी भूलनेकी नहीं। बाहरसे जो लोग उनको यशका कंगाल कहकर प्रचार करते हैं, वे विना जाने कितना बड़ा अपराध करते हैं ! और चकमा या ठगाई ? वास्तवमें जिस आदमीने अपना सर्वस्व दे दिया है, बदलेमें वह चकमा कैसे सह सकेगा ?

और एक बात कहनेको है। बात अरुचिकर है। सतर्कता और अति-विज्ञताके खयालसे एक बार सोचा था कि कहनेकी जरूरत नहीं है; लेकिन बादको समझ पड़ा कि उनकी स्मृतिकी मर्यादा और सत्यकी रक्षाके लिए उसे कह डालना ही अच्छा है। अबकी फरीदपुरकी कान्फ्रेन्समें मैं नहीं गया। वहाँका रत्ती-रत्ती सब हालमें नहीं जानता; किन्तु वहाँसे लौटकर अनेक लोगोंने मेरे आगे ऐसे सब मन्तव्य प्रकट लिये, जो प्रिय नहीं हैं, अच्छे भी नहीं हैं। उसमेंसे अधिकांश ही क्षोभकी बातें हैं और देशबंधुके सम्बन्धमें वे एकदम असत्य हैं।

देशमें रिवोल्यूशनरी (क्रांतिकारी) और गुप्त समितियोंके अस्तित्वके लिए कुछ दिनोंसे देशबन्धु अपनेको विपन्न जान रहे थे। उनकी मुश्किल यह थी कि जो लोग स्वाधीनताके लिए अपने प्राणोंकी बलि देनेको तैयार थे, उनको बिल्कुल न प्यार करना भी जैसे उनके लिए असभव था, वैसे ही उनको प्रश्रय देना भी उनके लिए असंभव था। क्रातिकारियोंकी चेष्टाको देशके

लिए अत्यन्त अकल्याणका कारण जानकर वह बहुत डरने लगे थे। उनकी गुप्त समितिका उल्लेख करके उन्होंने एकदिन मुझसे बंगलामें एक अपील लिख देनेको कहा था।

मैं लिख लाया—"अगर तुम लोग कहीं होओ, अगर तुम अपने मत-वादको सपूर्णरूपसे छोड़ न भी सको, तो कमसे कम ५-७ सालके लिए भी अपनी कार्य-पद्धतिको स्थगित रखकर, हम लोगोंको प्रकाश्यरूपसे स्थिर-चित्तसे काम करने दो—इत्यादि इत्यादि।"

किन्तु मेरी इस 'अगर' पर घोरतर आपत्ति करके उन्होंने कहा—सत्ताईस वर्षसे assuming but not admitting (जानना, पर स्वीकार न करना) करता आया हूँ, लेकिन अब और धोखा न दूँगा। मैं जानता हूँ कि वे लोग हैं, 'अगर' निकाल दीजिए इसमेंसे।

मैंने आपत्ति करके कहा—आपकी इस स्वीकृतिका फल देशके लिए अत्यन्त हानिकर होगा।

देशबन्धुने जोर देकर कहा—ना। सच बात कहनेका फल कभी बुरा नहीं होता।

कहनेकी जरूरत नहीं, मैं इसके लिए राजी नहीं हो सका, और वह अपील भी प्रकाशित नहीं हो सकी। देशबन्धुने मुझसे कहा था—जो लोग ये सब काम करते हैं, जान बूझकर ही करते हैं, किन्तु जो लोग कुछ नहीं करते, वे ही गवर्नमेंटके हाथसे अधिक सताये जाते और कष्ट पाते हैं। सुभाष, अनिल-बरण, सत्येन्द्र आदिके लिए उनकी मानसिक पीड़ाकी सीमा नहीं थी। सुभाषचन्द्रको कार्पोरेशनका काम देनेके बाद उन्होंने एक दिन मुझसे कहा था—I have sacrificed my best man for this corporation, (मैंने अपने सर्वश्रेष्ठ आदमीको इस कार्पोरेशनके लिए बलिदान कर दिया।) और उन्हीं सुभाषको जब पुलिस पकड़ ले गई, तब उन्हें दृढ विश्वास हो गया कि उनको सब ओरसे अक्षम और अकर्मण्य कर देनेके लिए ही गवर्नमेंट उनके हाथ-पैर काटकर पगु बनाती जा रही है।

उनके फरीदपुरके अभिभाषणके बाद माडरेट (नरम) दलके लोग उत्फुल्ल होकर कहने लगे—अब तो कोई प्रभेद नहीं रहा। आओ, अब छातीसे छाती

मिलाकर एक हो जायँ। अँगरेजी अखबार-वालोंके दलने उनके 'जेसचर' का अर्थ और अनर्थ करके गाली दी या प्रशंसा की, ठीक समझमें ही नहीं आया। उनके अपने दलके लोग मुँह फुलाये ही रहे; किन्तु इस सम्बन्धमें एक बात मुझे कहना है।

असाधारण कार्यकर्त्ताओंमें एक बड़ा दोष यह होता है कि वे अपने सिवा और किसीकी कर्म-शक्तिपर आस्था नहीं रख सकते। अबकी बार बीमारीसे जब देशबन्धु चारपाईपर पड़े थे और जान पड़ता है, परलोकका बुलावा उनके कानोंतक पहुँच गया था, तब एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था—शरत्बाबू, समझौता करना जिसने नहीं सीखा, जान पड़ता है, इस जीवनमें उसने कुछ नहीं सीखा। Tory Government is the cruellest Government in the world. (अनुदारदलकी गवर्नमेंट दुनियामे सबसे बढ़कर बेरहम गवर्नमेंट है।) पृथ्वीपर ऐसा कोई अनाचार नहीं है, जिसे ये नहीं कर सकते। पर समझौता और मिटमाट कर लेनेमें भी, जान पड़ता है, ऐसा मित्र और नहीं है। जलियानवाला बागकी याद घड़ी भरके लिए भी देशबन्धुके हृदयसे दूर नहीं हुई।

एक बार एक सभाके बाद गाड़ीके भीतर मुझसे उन्होंने प्रश्न किया था कि बहुतसे लोग मुझे सलाह देते हैं कि फिर प्रैक्टिस (बैरिस्टरी) करके देशके लिए रुपए कमाऊँ। आप क्या कहते हैं?

मैंने कहा—ना। रुपयोंके कामका अन्त है; किन्तु इस आदर्शका कोई अन्त नहीं है। आपका त्याग सदैव हमारी जातीय सम्पत्ति बनकर रहे। यह हमारे लिए असख्य रुपयोंसे भी कहीं बड़ा है।

देशबन्धुने कुछ उत्तर नहीं दिया। हँसकर चुप हो रहे। इस हँसी और चुप रहनेका मूल्य हम लोग समझ सकें—इससे बड़ी कामना और नहीं है। *

---

* बंगला सन् १३३२ की मासिक वसुमती पत्रिकाकी आषाढ़की देशबन्धु-स्मृति-सख्यासे लिया गया।

शिक्षाका विरोध

इतने दिनोंसे इस देशमें शिक्षाकी धारा निरुपद्रव मार्गसे चली आ रही थी। वह भली है या बुरी, इस विषयमें किसीको कोई चिन्ता या उद्वेग न था। मेरे पिता जो पढ गये हैं, वह मैं भी पढूँगा। इसके द्वारा जब वह दो पैसे जमा कर गये हैं, साहब-सूबोंके दरबारमें कुर्सी पा गये हैं, तब मैं ही भला क्यों न यह सब कर सकूँगा? मोटे तौरपर यही हमारे देशके सोचनेका ढग था। अचानक एक भयानक आँधी आई। कुछ दिनोंसे सारा शिक्षाका विधान ही नींवसमेत इस तरह हिलने लगा कि एक दल कहने लगा, वह गिर जायगा। अन्य दल जोरसे सिर हिलाहिलाकर कहने लगा—ना, डरो नहीं—गिरेगा नहीं। गिरा भी नहीं। इस बातको लेकर उन्होंने प्रतिपक्षको खूब कड़ी और कटु बातोंकी बाण-वर्षासे जर्जर कर दिया। इसका कारण था। मनुष्यकी शक्ति जितनी घटती जाती है, उसकी जीभका विष उतना ही उग्र हो उठता है। बाहर उन्होंने खूब गालियाँ दीं, किन्तु हृदयके भीतर भरोसा अधिक नहीं पाया। यह भय उनके मनके भीतर रही गया कि दैवयोगसे अगर और किसी दिन हवाने जोर पकड़ा तो यह नींवसे हिला हुआ और डगमगाता हुआ अतिकाय भवन कलाबाजी खाकर गिरनेमें क्षणभरकी देर न करेगा।

ऐसी जब अवस्था थी, तब श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर विलायतसे लौट आये और पूर्व और पश्चिमकी शिक्षाओंके मिलनके सम्बन्धमें एकके बाद एक अपने कई भाषणोंमें उन्होंने अपना मतामत प्रकट किया।

रवीन्द्रनाथ मेरे गुरु-तुल्य पूजनीय हैं। अतएव मतभेद रहनेपर भी उसे प्रकट करना मेरे लिए कठिन है। केवल यही भय होता है कि कहीं बिना जाने उनके सम्मानको कहींपर आघात न कर बैठूँ। किन्तु यह तो केवल व्यक्तिगत मतामतकी आलोचना नहीं है—जो उनका भी बहुत पूज्य है, उसी देशके साथ यह जुड़ा हुआ है। उनके कथनको लेकर कई एक ऐंग्लो-इंडियन अखबार एकदम उल्लसित हो उठे हैं। रहरहकर उनके पेंचीले उपदेश बराबर चल रहे हैं। और कुछ न हो, इस देशकी हिताकांक्षासे जब

उनका हृदय फटने लगता है, तब भय होता है कि इसके भीतर कहीं कोई बड़ा भारी दोष है। खास करके बंगालीके द्वारा चलाये जानेवाले एक ऐंग्लो-इंडियन अखबारका मुँह तो बन्द ही नहीं होता। अपनी बुद्धिसे कविकी बातोंको विकृत करके, तोड़-मरोड़कर वह लगातार कह रहा है—हम लोगोंने कह-कहकर अपना गला फाड़ डाला, पर कुछ फल न हुआ। अब रविबाबूने आकर रक्षा कर दी। यथा—

" And if there were any among educated Bengalees, who were wavering and vacillating, knowing not what to do,—to exclude the West or to stick to the East—Ravindranath's recent Calcutta lectures have gone a great way towards making up their minds. They have given up their sitting-on-the-fence posture. They have jumped off on the Western side."

अर्थात् हम जो शिक्षित बंगाली घेरेके अग्रभागमें बैठे हुए थे, वे हिल रहे थे, डावाँडोल हो रहे थे और नहीं जानते थे कि क्या करें—पश्चिमका वर्जन करें या पूर्वसे चिपके रहें। रवीन्द्रनाथके हालके कलकत्तेके भाषणोंने उनके दिमागोंको ठीक करनेमें बड़ा काम किया अथवा उन्हें ठीक रास्ता दिखा दिया। उन्हें अपनी दशाका अनुभव हुआ और वे पश्चिमकी ओर फाँद पड़े।

सारांश यह कि हम देशके शिक्षित लोग घेरेकी चोटीपर खड़े थे। पश्चिमसे लौटे हुए कविका इशारा पाकर, रामका नाम लेकर, पश्चिमकी ओर ही फाँद पड़े! बच गए! इतने दिनोंमें शिक्षितसमाजके लिए इस समस्याका एक समाधान हुआ! किन्तु शिक्षितजन जिसको लेकर इतना बड़ा हो-हल्ला करते हैं, उसके सम्बन्धमें, उन लोगोंके युक्ति तर्कसे इसका क्या मूल्य ठहरता है जिन्हें ये शिक्षित लोग अज्ञ, अशिक्षित आदि विशेषणोंसे याद करनेमें रत्ती भर भी संकोचका अनुभव नहीं करते, यह भी एक बार तौल लेना अच्छा होगा। किन्तु मोटे तौरसे पूर्व और पश्चिमकी शिक्षाके मिलनके बारेमें कविने असल बात क्या कही है, यह देख लेना चाहिए।

पहली बात उन्होंने यह कही है कि आजके दिन पश्चिम विजयी हुआ है,

अतएव उस जयका कौशल उन लोगोंसे हमें सीखना चाहिए। अच्छी बात है। दूसरी बात यह है कि महायुद्धके बाद पश्चिम शोकाकुल होकर पूछ रहा है—भारतकी वाणी क्या है? अतएव उनको वह वाणी बता देना आवश्यक है। यह भी अच्छी बात है। मैं जहाँ तक जानता हूँ, असहयोगपथियोंमेंसे कोई भी इस विषयमें कोई आपत्ति नहीं करता। तीसरी बात कविने उपनिषदके ऋषि वाक्यको उद्धृत करके कही है—'ईशावास्यमिद सर्वं' (यह सब ईश्वरका ही है), अतएव 'मा गृधः' (मत छीनो)। बहुत ही अच्छी बात है—इसमें किसीको विरोध नहीं है। सारी दुनियाके लोकसमाजमें यह भी कोई अस्वीकार नहीं करता कि यह एक तत्त्वकी बात नहीं है। अथ च, मनुष्यकी ऐसी बुरी आदत है कि वह सरल और सहज सत्यको किसी तरह सीधा सीधा मानकर झगड़ेको मिटा न लेगा। अपने अपने स्वार्थ और प्रयोजनके माफिक, उसमें असंख्य sub-clause (उपधाराएँ) और अगणित qualification) व्याख्याएँ) लाकर उसे ऐसा माराक्रान्त अथवा जटिल बना देगा कि तत्त्वकी बात आप ही पहेली बन जायगी। तब उसे बिना सकोचके सत्य कहकर पहिचान लेना ही कठिन होगा। केवल इसी कारण उपस्थित सभी fact (तथ्य) ससारमें सत्यका 'चेहरा' लगाकर, मनुष्यके कामों और सोचने-विचारनेके ढगके भीतर अनधिकार-प्रवेश करके अपरिमेय अनर्थ खड़ा कर देते हैं।

कविने पहले ही कहा है—

"यह बात माननी ही होगी कि आजके दिन पृथ्वीपर पश्चिमके लोग विजयी हुए हैं। उन्होंने पृथ्वीको कामधेनुकी तरह दुहा है। उनका पात्र इतना भर गया है कि दूध बाहर निकला जा रहा है। .... अधिकार उन्होंने क्यों पाया है? निश्चय ही किसी एक सत्यके जोरसे।"

आजके दिन यह बात अस्वीकार करनेका उपाय नहीं है कि पृथ्वीके सभी बड़े बड़े दूधके पात्रोंमें वह गहरा मुँह डाले हुए हैं, किन्तु हम भूखे उपवास किये खड़े हैं।

यह एक फैक्ट (तथ्य) है। आजके दिन इससे किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता। हम सत्य ही भूखे और उपवासी हैं, किन्तु इसी लिए

क्या मान लेना होगा कि यह अधिकार उन्होंने किसी सत्यके जोरसे पाया है? और वह सत्य क्या हमको उनसे सीखना ही होगा? लोहा धरतीपर गिर पड़ता है, पानीमें डूब जाता है, यह एक तथ्य है; किन्तु मनुष्य अगर इसीको चरम सत्य मानकर निश्चिन्त हो बैठता, तो आज नीचे पानीके ऊपर और ऊपर आकाशमें लोहेके बने जहाज दौड़ते हुए न घूम सकते। उपस्थित कालमें जो तथ्य है, वही केवल आखिरी बात नहीं है। महीनेकी पहली तारीखको जिस आदमीने अपनी विद्याके जोरसे मेरी महीनेभरकी तनख्वाह जेब काटकर उड़ा दी और मुझको बालबच्चोंसमेत अनाहार भूखा रक्खा अथवा मेरे सिरपर एक लाठी मारकर सब पैसा-कौडी छीनकर रास्तेकी चाटकी दूकानपर बैठकर मजेसे भोज उड़ाया, यह घटना सत्य होनेपर भी किसी सच्चे अधिकारसे उसने ऐसा किया, यह मैं नहीं कह सकूँगा, अथवा इन दोनों महाविद्याओंको सीखनेके लिए उसकी शरणमें जाना होगा, यह भी मैं स्वीकार नही कर सकूँगा। इसके सिवा गिरहकट किसी तरह यह न बता देगा कि रुपये-पैसे कहाँ रखनेसे गिरह काटकर नहीं निकाले जा सकते, अथवा गुंडा भी यह नहीं सिखा देगा कि किस तरह जवाबमें उसके सिरमें लाठी मारकर आत्मरक्षा की जाय? यह बात अगर सीखनी ही हो तो और कहीं सीखी जा सकती है, कमसे कम उन लोगोंके पाससे तो नहीं।

कविने जोर देकर कहा है कि यह बात माननी ही होगी कि पश्चिम विजयी हुआ है और वह केवल अपनी सत्य विद्याके अधिकारसे। शायद यह मानना ही होगा। कारण, फिलहाल ऐसा ही देख पड़ता है। किन्तु यह बात किसी तरह नहीं मानी जा सकती कि केवल जय करनेके कारण ही यह जय करनेकी विद्या सत्य विद्या है, अतएव उसे सीखना चाहिए।

ग्रीस एक दिन पृथ्वीके रत्नभाडारको लूट ले गया था। रोमने भी यही किया था। अफगानोंने भी कम लूट नहीं की। किन्तु वह सत्यके जोरसे नहीं और वह सत्य होकर भी नहीं रही। दुर्योधनने एक दिन शकुनिकी विद्याके जोरसे विजयी होकर पाँचों पाण्डवोंको लंबे अर्से तक वनमें उपवास करनेके लिए लाचार किया था। उस दिन दुर्योधनका पात्र भी भरकर छलक पड़ा था, भोगके अन्नमें कहीं एक दाना भी कम नहीं पड़ा था। किन्तु उसको सत्य मान

लेनेसे युधिष्ठरको लौट आकर जीवनभर केवल पाँसेका खेल सीखनेमें ही बिताना पड़ता। अतएव ससारमें जय करने अथवा पराया छीन लेनेकी विद्याको ही एक-मात्र सत्य समझकर उसके प्रति लुब्ध हो उठना मनुष्यकी बड़ी सार्थकता नहीं है। इसके सिवा जय क्या केवल विजेताके ऊपर ही निर्भर है? अफगानोंने जब हिन्दुस्तानको जीता था तो क्या अपने गुणोंसे? हिन्दुस्तानने अपने ही दोषोंसे देशको गँवा दिया था। उस त्रुटिके सशोधनकी विद्या उसके अपने ही पास थी, विजेता अफगानोंसे सीखनेके लिए कुछ नहीं था। फिर ऐसे दृष्टान्त भी इतिहासमें दुर्लभ नहीं हैं, जब विजेता ही पराजितके निकट क्या विद्या, क्या धर्म, क्या सभ्यता और क्या शिष्टता-भद्रता, सभी कुछ सीखकर एक दिन मनुष्य हो गया था।

किन्तु यह किसने कहा कि विजेताके पास अगर सचमुच कोई विद्या हो तो उसे न सीखना चाहिए? किसने कहा कि उसका द्वार पश्चिममुखी होनेके कारण उस विद्याको अहिंदू कहकर उसका बायकाट करना होगा? पदार्थ-विद्या, रसायनशास्त्र, अर्थशास्त्र—पश्चिमकी इन सब विद्याओंको सीखनेकी आवश्यकता नहीं है, यह कहकर कौन विवाद करता है? विवाद अगर कुछ है तो उसकी विद्याके ऊपर नहीं; वह है उसके सिखानेका ढोंग करनेके ऊपर शिक्षाके बदले कुशिक्षाके विस्तारपर। इतने दिनोंतक इस तमाशेमें योग देकर पागलकी तरह सभी नाचते फिर रहे थे। अब एकाएक कुछ लोगोंको होश आया है। उन्होंने पीछे हटकर खड़े होकर इस धोखा-धड़ीको केवल उँगलीसे दिखा देनेकी चेष्टा की है। यही तो असलमें मतभेदका कारण है।

इस चीजको जरा स्पष्ट करके देखनेकी चेष्टा की जाय। पश्चिमकी पदार्थ विद्या और रसायन शास्त्रकी जितनी तरक्की गत महायुद्धके समय हुई है, उतनी इतने थोड़े समयके भीतर शायद और कभी नहीं हुई। मनुष्यको मारनेके नये-नये कौशल जितना इन्होंने निकाले हैं, उतना ही आनन्द और दम्भसे इनकी छाती फूल उठी है। इस विज्ञानकी सहायतासे आग लगाकर, जहरीली गैससे गाँव-के-गाँव, शहरके शहर नष्ट करनेके न जाने कितने कूट-कौशल इन्होंने निकाले हैं और अगर कुछ दिन और यह युद्ध चलता तो और भी कितने

ही निकालते। जान पड़ता है, सौभाग्य और सभ्यताका इनका यही एकमात्र मानदण्ड है कि कौन कितने थोड़े परिश्रमसे कितने अधिक मनुष्योंकी हत्या कर सकता है। इनके नजदीक विज्ञानका यही सबसे बड़ा प्रयोजन है। इसे जो नहीं देख पाता, वह अधा है। मैं बहुत बड़ी कवि-कल्पना करके भी यह नहीं सोच पाता कि ये लोग यह विद्या दूसरे किसीको सिखा सकते हैं या सीखनेका मौका दे सकते हैं। यहाँपर बात उठ सकती है कि क्या इससे ऐसा कुछ भी अविष्कार नहीं हुआ, जिससे मनुष्यका कल्याण हो? हुआ क्यों नहीं। किन्तु उसे बिल्कुल ही by-product (गौण उत्पादन) कहा जा सकता है।

इसपर कहा जा सकता है कि गौण उपज ही सही; किन्तु वह जब मनुष्यके हितके लिए है, तब उन विद्याओंको सीख कर भी तो हम मनुष्य बन सकते हैं। मैं कहताा हूँ—शायद हो सकते हैं। किन्तु ठीक इस उपायसे नहीं। पश्चिमकी सभ्यताका अहंकार आकाशको छू रहा है। हमारे और हमारी जैसी और भी अनेक अभागी जातियोंके कधेपर जब वे सवार हो जाते हैं, तभी घर और बाहर यह कैफियत देते फिरते हैं कि ये लोग देखने-सुननेमें मनुष्य-जैसे होनेपर भी ठीक ठीक मनुष्य नहीं हैं। कमसे कम बालिग नहीं हैं, नाबालिग बच्चे हैं। बेलजियम जब नीग्रो लोगोंके देशमें जाकर रबड़के लिए नीग्रो लोगोंके ही हाथ काट देने लगा, तब वहाँके लोगोंने उसका यही कारण बताया था कि थे लोग हमारा हुक्म नहीं मानना चाहते। ये असभ्य हैं। इसी लिए हमने गले पड़कर इन्हें सभ्य बनानेका, मनुष्य बनानेका भार या ठेका जब लिया है, तब हमें यह काम करना ही होगा। इसीसे सिखानेके लिए इन्हें कठोर दण्ड देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। 'तथास्तु' कहनेके सिवा इसका और क्या जवाब है, यह मैं नहीं जानता। हमारे अर्थात् भारतवासियोंके सम्बन्धमें प्रश्न उठने पर अँगरज भी ठीक यही जवाब देते आ रहे हैं कि ये अर्द्धसभ्य हैं—नादान बच्चे हैं। इनके देशमें बहुत अधिक अन्न उत्पन्न होता है; किन्तु पीछे अबोध शिशुकी तरह अधिक मात्रामें खाकर ये बीमार न पड़ जायँ, इसी खयालसे इनके मुँहका कौर हम अपने देशको ढोये लिये जाते हैं; इन्हींके भलेके लिए। और रुपये-पैसे कहीं ये फिजूलखर्चीमें बर्बाद न कर दें, इसीसे दया करके हम ही सब खर्च किये देते हैं; यह भी इन्हींके मंगलके लिए।

इसी तरह भलाई करनेकी ये न जाने कितनी न चुकनेवाली कहानियोंका जोर शोरसे प्रचार करते हैं—"कितना कष्ट करके सात समुद्र तेरह नदी पार होकर इन्हें मनुष्य बनाने हम आये हैं, क्यों कि सभ्य मनुष्य बनानेका पवित्र कर्तव्य (sacred duty) हम लोगोंका ही है। किन्तु आह,—हम तो परेशान हो गये! by law established (कानूनसे स्थापित) होकर इन इण्डियनोंको मनुष्य बनाते-बनाते ही हैरान हो रहे हैं, सुधारते-सुधारते मरे जाते हैं!"

भगवान् जानें, कब ये फिर यहाँसे by law disestablished (कानूनसे विस्थापित) होंगे, यहाँसे हटेंगे! कब हमलोग मनुष्य बनकर इन लोगोंको इस दुश्चिन्तासे मुक्त कर सकेंगे! डेढ़ सौ वर्षोंसे तालीम देना चल रहा है, लेकिन हम मनुष्य न बन सके। कब बन सकेंगे, यह भी वे ही जानते हैं और जगदीश्वर जानते हैं। किन्तु इन डेढ़ सौ वर्षोंमें भी अगर हमारा यह मोह न मिटा हो कि इनकी शिक्षा व्यवस्थामें हम सचमुच मनुष्य बन जायँगे, ये सचमुच ही हमें मनुष्य बनाकर अपनी मृत्युका अस्त्र अपनी इच्छासे हमारे हाथमें पकड़ा देनेके लिए व्याकुल हैं, तो मैं कहता हूँ कि हम लोगोंका कभी मनुष्य न बनना ही उचित है! भगवान् कभी किसी दिन इन अभागोंके ऊपर प्रसन्न न हों!

वास्तवमें यह बात समझना क्या इतना कठिन है कि विज्ञानकी जिस शिक्षासे मनुष्य यथार्थ मनुष्य बन जाता है, उसका आत्मसम्मान जागकर खड़ा हो जाता है, वह अनुभव करता है कि वह भी मनुष्य है, अतएव स्वदेशके भले-बुरेकी जिम्मेदारी केवल उसीकी है, और किसीकी नहीं—ऐसी शिक्षाकी व्यवस्था पराजितके लिए विजेता क्या कभी कर सकता है? उसके स्कूल-कालिज, उसकी शिक्षाकी व्यवस्था क्या वह अपने सर्वनाशके लिए ही तैयार कर देगा? वह केवल इतना-सा ही दे सकता है, जिससे उसके अपने काम सुशृंखलाके साथ चलें। उसकी अदालतोंमें विचारका खर्चीला अभिनय करनेके लिए वकील, मुख्तार, मुंसिफ, हुक्मके माफिक जेलकी सजा देनेके लिए डिपुटी, सबडिपुटी, पकड़ लानेके लिए थानेके छोटे-बड़े दारोगा और सिपाही, स्कूलमें हुजूरकी पितृभक्तिकी कथा पढ़ानेके लिए दुर्भिक्षपीड़ित

मास्टर, कालिजमें भारतकी हीनता और बंगलीपनपर लेक्चर देनेके लिए नख-दन्त-हीन प्रोफेसर; आफिसमें रजिस्टर लिखनेके लिए जीर्ण-शीर्ण क्लर्क, इससे अधिक उसका शिक्षाविधान कुछ दे सकता है, यह आशा भी जो कर सकता है वह क्या नहीं कर सकता, यही मैं सोचता हूँ।

अथच, कविने कहा है कि जीवित रहनेकी विद्या अथवा मनुष्य बननेकी विद्या केवल शुक्राचार्यके हाथमें है, जिनका घर आज पश्चिममें है। अतएव अगर हम मनुष्य बनना चाहते हैं तो आज हमें उनके आश्रमकी ओर दौड़ लगानी ही होगी। नान्यः पथा विद्यतेऽयनाय—और कोई रास्ता नहीं हैं। अमृत-लोकका मनुष्य होकर भी कच (देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र) को उनका शिष्य बनना पड़ा था। बनना पड़ा था यह सच है, किन्तु कच उस विद्याको सहजमें नहीं प्राप्त कर सका था। उसे गुरुदेवका आहार तक बनना पड़ा था। किंतु अब समय बदल गया है। हमारे दुर्भाग्यसे अगर गुरुदेवके भोजन-पर्व तक जाकर ही नाटक समाप्त हो जाय, तो तमाशेमें और कुछ बाकी नहीं रहेगा।

किन्तु हमको ही इतना दुःख, इतनी वेदना क्यों है? कविने कहा है—यह खालिस हम लोगोंका अपना ही दोष या अपराध है। लेकिन मैं इस कथनको पूरा-पूरा स्वीकार नहीं कर पाता। मुझे जान पड़ता है, प्रत्येक मनुष्यके दुःखके अध्यायमें ही उसके अपराधके अलावा और एक चीज है, जो उसका अदृष्ट है, जो उसकी दृष्टिके बाहर है और जिसके ऊपर उसका कोई जोर नहीं है। वैसे ही एक समग्र जातिके भी दुःखके मूलमें उसके दोषके अलावा एक ऐसी वस्तु है, जो उसके बूतेके बाहर साध्यातीत है। वह है उसका दुर्भाग्य। हमारे देशके इतिहासकी आलोचना या अध्ययन जिन्होंने किया है, वे जान पड़ता है, मेरी इस बातको बिल्कुल झूठ कहकर न उड़ा देंगे। हमारे दुःख और हीनताके मूलमें हमारा भाग्य भी बहुत कुछ जिम्मेदार है, जिसके ऊपर हमारा कोई वश न था। किन्तु कविने इस बात-पर सम्पूर्ण रूपसे अश्रद्धा या अविश्वास करके उपमाके मिससे एक कहानी कही है। वह कहानी इस प्रकार है—

"मान लो, एक बापके दो बेटे हैं। बाप स्वयं मोटर चलाते हैं। उनका भाव यह है कि दोनों लड़कोंमेंसे जो मोटर चलाना सीखेगा, उसीको मोटर

मिलेगी। दोनोंमें एक लड़का चालाक है, उसके कौतूहलका अन्त नहीं। वह बड़े गौरसे बारीकीके साथ देखता है कि मोटर कैसे चलती है। दूसरा लड़का सीधा भलामानुस है। वह भक्तिके साथ सिर झुकाये पिताके पैरोंकी ओर एकटक ताका करता है। पिताके दोनों हाथ मोटरके स्टेयरिंगको किधर किस तरह घुमाते हैं, उधर उसका ध्यान ही नहीं रहता। चालाक लड़केने मोटरके पुर्जोंको देख-भालकर उसे चलाना पूरे तौरसे सीख लिया और एक दिन वह अपने हाथसे गाड़ी निकालकर बैठ गया और जोरसे भोंपू बजाकर चलाने लगा। गाड़ी चलानेका शौक इस तरह उसपर सवार हुआ कि बाप है या नहीं, यह भी होश उसे न रहा। इसके लिए उसके बापने उसे तलब करके गालमें थप्पड़ मारकर अपनी गाडी नहीं छीन ली। बल्कि इससे वह प्रसन्न ही हुए कि वह स्वयं जिस रथके रथी थे, लड़का भी उसी रथका रथी है। भलेमानुस लड़केने देखा, उसका भाई पकी फसलके खेतोंको बर्बाद करके उसके भीतर दिन-दोपहरमें हवागाड़ी चलाता घूम रहा है, किसकी ताकत है जो उसे रोके। उसके सामने खड़े होकर बापकी दोहाई देनेका फल होता—मरण ध्रुवम् (निश्चित मौत)। तब भी वह बापके पैरोंकी ओर ताकता रहा और बोला—मुझे अब कुछ न चाहिए।"

मेरी समझमें नहीं आया कि इस कथाकी सार्थकता क्या है। लड़के दोनों कौन हैं, यह अनुमान करना कठिन नहीं है, किन्तु एक लड़केके प्रति दूसरे लड़केका अकारण उपद्रव देखकर जो बाप प्रसन्न होता है, यह कैसा बाप है, यह समझमें नहीं आता! हाँ, यह बात अच्छी तरह समझमें आती है कि ऐसे बापके पैरोंकी ओर जो लड़का ताकता रहता है—वह बाप चाहे जितने बड़े रथका रथी क्यों न हो, उस लड़केका मरण ध्रुवम्—मरण निश्चित है।

इसके बाद कविने इन दोनों लड़कोंका जीवन-वृत्तान्त भी दिया है। मोटर हाँकनेवाले लड़केने तो मैजिकसे विज्ञानके क्लासमें प्रमोशन पाया, लेकिन जिस लड़केका 'मरण ध्रुवम्' था, वह अपने मैजिक और तन्त्र-मन्त्रको लिये ही पड़ा रहा। इस तन्त्र मन्त्रके ऊपर कवि पहले भी कठोर कटाक्ष कर चुके हैं। उनके 'अचलायतन' में इस तन्त्र-मन्त्रको लेकर यथेष्ट हँसी उड़ाई

जा चुकी है। जो लोग वाकिफ-हाल हैं, वे इसका विचार करेंगे; किन्तु मुझे जान पड़ता है, यहाँपर यह बिल्कुल व्यर्थ है।

मनुष्यके इतिहासमें यह एक प्राचीन तथ्य है कि विश्व-वस्तुके पीछे कोई एक अज्ञेय शक्ति है और आज बीसवीं सदीमें भी उसका अता-पता वैसा ही, उतना ही, अज्ञात है। उस अज्ञेय शक्तिको प्रसन्न करके अपना काम बनानेकी चेष्टा मनुष्य चिरकालसे करता आ रहा है। आज भी उसका कोई उपाय नहीं निकला, अथच आज भी उसका अन्त नहीं हुआ। इस उपायके आविष्कारकी राहमें किस तरह वह प्रार्थना एक दिन मैजिकमें अर्थात् मंत्र-तंत्रमें और मैजिक और एक दिन प्रार्थनाका चेहरा बदलकर खड़ा हो जाता है, यह तर्क उठाकर लेखको बढ़ानेकी मेरी इच्छा नहीं। ईश्वरकी धारणाकी अभिव्यक्तिके इतिहासका यह अंश विज्ञानकी परिणतिके प्रश्नमें मुझे अप्रासंगिक जान पड़ता है।

वह चाहे जो हो, इस मोटर हाँकनेवाले लड़केकी उन्नतिका कारण और उस बापके पैरोंकी ओर ताकनेवाले लड़केके दुःखका विवरण कविने इस जगह एकदम स्पष्ट कर दिया है। यथा—

"पूर्वके देशोंमें हम लोग जिस समय रोग होनेपर भूत-प्रेत उतारनेवाले ओझाको बुलाते हैं, कोई मुसीबत पड़नेपर ग्रह-शान्तिके लिए ज्योतिषीके दरवाजे दौड़ते हैं, शीतला या चेचकको रोकनेके लिए शीतला देवीपर भरोसा करते हैं और शत्रुको मारनेके लिए मारण उच्चाटनके मंत्र जपने बैठ जाते हैं, ठीक उसी समय पश्चिम महादेशमें वाल्टेयरसे एक औरतने पूछा था—सुना है, मन्त्र-बलसे झुडके झुड भेड़े मार डाले जा सकते हैं, यह क्या सच है? वाल्टेयरने जवाब दिया था कि निश्चय ही मार डाले जा सकते हैं, किन्तु उसके साथ उचित परिमाणमे संखिया रहना चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि योरपके किसी कोने अंतरेमें जादू या तंत्रमन्त्रके ऊपर कुछ भी विश्वास नहीं है; लेकिन इस सम्बन्धमें संखिया विषके ऊपर विश्वास वहाँ सर्वसम्मत है। इसी कारण वे इच्छा करते ही मार सकते हैं और हम न चाह कर भी मर सकते हैं।"

कविका यह अभियोग अगर सच हो, तो फिर कहनेको और कुछ नहीं है। हम सबका मरना ही उचित है। यहाँ तक कि संखिया खानेमें भी किसीको आपत्ति न करनी चाहिए। किन्तु क्या यही सच है? वाल्टेयरको हुए अभी अधिक दिन नहीं हुए। उनका जैसा पण्डित और ज्ञानी उस समय उस देशमें बहुत सुलभ नहीं था। अतएव यह बात उनके मुखसे निकलना कुछ भी अस्वाभाविक या अप्रत्याशित नहीं है। किन्तु उस जमानेमें अज्ञान और बर्बरताके कारण यह हमारा देश क्या इतना नीचे गिर गया था कि ठीक ऐसी ही बात कहनेवाला कोई आदमी यहाँ न था, जो कहे कि "भैया, भूतका ओझा न बुलाकर वैद्यके घर जाओ। मारना चाहो किसीको तो और रास्ता पकड़ो, केवल घरमें बैठकर एकान्तमें मारण मन्त्रका जप करनेहीसे कार्य सिद्ध न होगा?"

योरपका जय-गान करनेको मैं मना नहीं करता। अथवा जो हाथी गहरे गढेमें गिर गया है, उसे लेकर आस्फालन करने या ढींग मारनेकी भी मेरी रुचि नहीं है। किन्तु इसीलिए भूतके ओझा और मारण-उच्चाटन मत्र-तंत्रके इंगितको भी निर्विवाद हजम नहीं कर सकता। बंगला साहित्यमें 'गोरा' नामका एक अत्यन्त प्रसिद्ध उपन्यास है। कवि अगर उसे एक बार पढ़कर देखें तो देखेंगे कि उसके अत्यन्त स्वदेशभक्त ग्रन्थकारने गोराके मुँहसे कहलाया है—"निन्दा पाप है, मिथ्या निन्दा और भी पाप है और अपने देशकी मिथ्या निन्दाके बराबर पाप तो संसारमें थोड़े ही हैं।"

कविने कहा है कि जादू-मत्रकी परिणति ही होती है विज्ञानमें। कोई वस्तु कितनी ओरसे परिणत हो उठती है, यह एक अलग बात है, किन्तु क्या यही ठीक है कि योरप अपनी जादू-विद्याका नाला एक छलाँगमें ही पार हो गया, और हम सारे देशके लोग मिलकर हाड़-गोड़ तोड़कर उसी कीचड़में हमेशासे गड़े पड़े रहे? क्या यहाँ कोई न जानता था कि बाहरकी ओर यह विश्व एक बहुत बड़ी मशीन है, इसके अखण्ड अव्याहत नियमकी शृङ्खला जादू-विद्याके जोरसे नहीं टूटती, संसारमें जो कुछ होता है, उसका कोई न कोई कारण है, और वह कारण कड़े आईन कानूनसे बँधा है? अर्थात ज्ञान-विज्ञानके यथार्थ

जनक-जननी विश्व-जगत्में कार्य-कारणके सत्य और नित्य संबंधकी धारणा क्या इस अभागे पूर्वके देशमें किसीको नहीं थी? और क्या इस तत्त्वके प्रचारकी चेष्टा पश्चिमसे न मँगा सकनेपर हम लोगोंके भाग्यमें मारण-उच्चाटन मन्त्र-तन्त्रसे अधिक और कुछ भी नहीं मिल सकता? पश्चिमकी विद्यामें अनेक गुण रह सकते हैं, किन्तु उसने यदि हमारे मनमें अपने लोगोंके प्रति अनास्था ही ला दी हो, अपने यहाँके ज्ञान, अपने धर्म, अपने समाज-संस्थान, अपनी विद्या-बुद्धि आदि सब बातोंके ऊपर केवल अश्रद्धा ही उत्पन्न कर दी हो, तो जान पड़ता है कि लुभाये हुए मनसे पश्चिमके शुक्रा-चार्यकी ओर हम लोगोंका न ताकना ही भला है। वास्तवमें यह तो नास्तिकता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जिस शिक्षासे मनुष्य यथार्थ मनुष्य बन सकता है—कमसे कम उन लोगोंकी मनुष्य बननेकी जो धारणा है—वह उन्होंने हमको नहीं दी, देंगे नहीं, और मेरा विश्वास है कि वे दे भी नहीं सकते। इतने लंबे समय तक पश्चिमका संसर्ग रहनेपर भी हम क्या बने हुए हैं, केवल इतना ही क्या इस बातका स्पष्ट प्रमाण नहीं है? केवल यही शिक्षा हमने पाई है जिससे अपने लोगोंको सब विषयोंमें हीन समझकर उनके प्रति अवज्ञाका भाव और पाश्चात्य लोगोंके सब-कुछपर गहरी श्रद्धा हमारे मनमें उत्पन्न हो गई है। और उनके भीतरका द्वार इस तरह बंद होनेके कारण ही आज हमारी अवनति भी इतनी गहरी है। भीतरसे जाननेका तो रास्ता है नहीं, इसीसे केवल उनकी बाहरी साजसज्जा देखकर एक ओर अपने लोगोंको प्रति जैसे घृणा, वैसे ही दूसरी ओर उनके प्रति भक्तिकी उमंग भी एकदम सैकड़ों धाराओंमें फूट पड़ी है। इसीसे, एक दिन हमारे देशके लोगोंके एक दलने बिना विचारे यह तय कर लिया था कि ठीक उन लोगोंकी तरह बने बिना अब हमारी मुक्ति न होगी! उनमें जातिभेद नहीं है, अतएव वह उठा देना चाहिए; उनमें स्त्रियोंको स्वाधीनता है, अतएव उसके विना काम ही नहीं चल सकता; उनके यहाँ खाने-पीनेका कोई विचार या परहेज नहीं है, अतएव उसे उठा दिये बिना हमारी रक्षा नहीं है, उनके मन्दिर नहीं हैं, अतएव हमारे यहाँ भी गिरजोंकी व्यवस्था चाहिए; वे भाड़ेपर धर्मप्रचारक रखते हैं, अतएव हमारे यहाँ भी यह अत्यन्त आवश्यक है। इसी तरह न जाने कितनी बातें हैं। केवल शरीरका चमड़ा बदलनेका कोई उपाय उन्होंने ढूँढे नहीं

पाया, नहीं तो आज उन्हें पहचाना भी न जाता! अथच, मैं इसके दोष गुणका विचार नहीं करता, मै सीधे स्वभावसे कहता हूँ, किसी दल या व्यक्तिविशेष-पर आक्रमण करनेकी मुझे लेशमात्र अभिरुचि नहीं है। मैं केवल इसकी mentality ही आप लोगोंको बतलानेका प्रयास करता हूँ। यह जो विदेशके प्रति अकृत्रिम अनुराग और अपने देशके ऊपर घोर विरक्ति है, यह केवल उनके भीतरका रास्ता चिरदिन बद होनेके कारण ही सभवपर हुई था। इसीसे इन लोगोंके ससर्गमें जो लोग आये थे, उनकी आँखोमें उन लोगोंके बाहरका मोह ऐसा सवार हो गया था कि इस तत्त्वका आविष्कार करनेमें उन्हें घड़ी भरकी भी देर नहीं लगी कि बाहरसे जितना या जो देखा जाता है, उसकी हूबहू नकल करनेसे ही हम तुरत मनुष्य बनकर उनके अंतरके पंगतके भोजमें सरासर बैठ जा सकेंगे। संसारमें जो कुछ अज्ञात है, गोपन है, जिसके भीतर पैठनेकी राह नहीं है, उसके प्रति लोगोंके लोमकी सीमा नहीं रहती। इसीसे यह बात उन लोगोंको स्वतःसिद्धकी तरह मान लेनेमें कहीं कुछ भी रुकावट नहीं हुई कि मनुष्य बननेका सच्चा सजीव मत्र केवल उनके इस निगूढ मर्मस्थानमें ही दबा पड़ा है, किसी तरह उसका पता पाये बिना हमारा यह मनुष्यजन्म सार्थक करनेका और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इस भ्रान्तिको आँखें खोलकर देखनेका आज समय आ गया है।

असलमें शिक्षाका विरोध इसी जगहपर है। वह केवल देहके गढनमें नहीं है, वह भीतरकी आत्मामें है। यह जो शिक्षा-प्रणालीको लेकर बहस चल रही है कि उनकी शिक्षा बहुत महँगी है, इन बड़ी बड़ी स्कूल-कालेजोंकी इमारतोंका क्या होगा? क्या होगा हाथसे खींचे जानेवाले पखेका? हमें टेबिल कुर्सीकी जरूरत नहीं है। हटा दो लंबी तनख्वाहके इन विलायती प्रोफेसरोंको। उनका खर्च जुटानेमे ही देशके माता पिता पागल हुए जाते हैं। इसी तरहकी सैकड़ों बातें कही जाती हैं। इनमेंसे कोई भी झूठ नहीं है, किन्तु यह भी तब मुझे तुच्छ जान पड़ती हैं, जब सोचता हूँ कि पूर्व और पश्चिमकी शिक्षाका सघर्ष ठीक किस जगहपर है? इनके सच्चे मिलनमें यथार्थ बाधा कहाँपर है? यह काम क्या कुछ थोड़ा-सा साज-सामान बदले जानेसे ही हो जायगा? टेबिल-कुर्सीके बदले लंबी-लंबी चटाई बिछाकर, बिजलीके-पखेके बदले ताड़का पखा लाकर, या लम्बी तनख्वाहके प्रोफेसरोंके बदले थोड़े वेतनके देशी

अध्यापकोंको रखकर अथवा बहुत हुआ तो विदेशी भाषाके माध्यमकी जगह स्वदेशी भाषाके लेक्चरका नियम करनेसे ही क्या दुःख दूर हो जायगा ? जब तक उस शिक्षाकी व्यवस्था न की जायगी, जिससे देशका बहिर्मुख और अश्रद्धासे युक्त मन फिर एक बार अन्तर्मुख और आत्मस्थ हो, तबतक दुःख कभी दूर न होगा। चाहे मनका मिलना हो और चाहे शिक्षाका, वह केवल बराबरीवालोंमें श्रद्धाके आदान-प्रदानसे ही हो सकता है। ऐसे कंगालकी तरह, भिक्षुककी तरह रहनेसे कुछ भी न होगा। होने पर भी वह केवल बनावटी होगा। उसमें कल्याण नहीं, गौरव नहीं। देशको केवल हीनता और लाछना ही देगा, मनुष्यत्व कभी किसी दिन नहीं देगा।

मेरा यह सब कहना केवल बातकी बात नहीं है, उद्दीपनापूर्ण स्वदेशी लेक्चर नहीं है। सत्य ही जो मैंने सत्य समझा है, वही केवल आप लोगोंके आगे कह रहा हूँ। मनुष्यकी एक प्रकारकी शिक्षा है, जो खालिस व्यक्तिगत सुख और सुविधाकी खातिर मनुष्य प्राप्त करना चाहता है। जिस मैंटिलिटी या प्रवृत्तिसे हमारे इस देशमें कोई कोई साहबी लहजेमें अँगरेजी बोलनेको ही चरम उन्नति समझते हैं, और इस मैंटिलिटीके ही एक सीढी नीचेके लोग जहाज रेलगाड़ीमें साहबी पोशाकके बिना किसी तरह यात्रा नहीं करना चाहते। और यह चीज इतनी इतर, इतनी क्षुद्र है कि यह क्यों होती है, इसका क्या उद्देश्य है, इसकी आलोचना करनेमें भी घृणा मालूम होती है। किन्तु मैं निश्चय जानता हूँ कि इस छद्मवेशकी हीनता, यह अपनेसे ही अपनेको छिपानेका पाप तथा गहरी लांछना आप लोग अनायास ही समझ सकेंगे। और प्रसंगवश यह बात मैंने क्यों उठाई, यह भी समझना आप लोगोंको बाकी न रहेगा।

यहांपर जापानकी बात याद करके कोई कोई कह सकते हैं कि अगर यही सत्य है तो जापानने काहेके जोरसे अपनेको ऐसा बना लिया है ? उसका चालीस-पचास साल पहलेका इतिहास एक बार सोचकर देखो। सोचकर मैंने देखा है। पश्चिमके शुक्राचार्यकी चेलागिरीके जोरसे ही अगर वह आज इतना बड़ा हो गया हो तो हमने बड़प्पनको भी शुक्राचार्यके ही मानदण्डसे मापकर देखा है। किन्तु मनुष्यत्वके विकासका क्या वही आखिरी मानदण्ड है ?

जातीय जीवनमें इन दो सौ चार सौ वर्षोंकी घटना ही क्या उसका चरम इतिहास है ?

मैं जापानके इतिहासको नहीं जानता। उसके पास क्या था और अब क्या हो गया है, इस विषयसे मैं अनभिज्ञ हूँ। किन्तु यदि यही उसकी पार्थिव उन्नतिके मूलमें है, यदि पश्चिमकी सभ्यताके चरणोंमें उसके आत्म-समर्पणकी सूचना ही इससे मिल रही हो, तो जान पड़ता है, जोर गलेसे-ऊँचेस्वरसे आनन्दध्वनि करनेका कोई विशेष कारण नहीं है। अगर ऐसा दुर्दिन कभी भारतको नसीब हो—वह अपने विगत जीवनके सारे ट्रेडीशन भूलकर इतना उन्नत हो उठे कि एक काले चमड़ेके सिवा पश्चिमके साथ उसका कोई भेद ही न रह जाय, तो भारतके भाग्यविधाता ऊपर बैठे-बैठे उस दिन हँसेंगे या अपने बाल नोचेंगे, यह कहना कठिन है।

कोई भी बड़ी चीज कभी अपने अतीतके प्रति श्रद्धा खोकर, अपनी शक्तिके प्रति विश्वास गँवाकर नहीं होती—हो ही नहीं सकती। उनकी जिस विद्याके ऊपर हम लोग इतना लुभाये हैं, उसे हम उनके सिरपर हाथ फेरकर ही सीख लें, या पैरोंमें तेलकी मालिश करके ही प्राप्त करें, किन्तु यदि देशकी प्रतिभाके भीतर उसकी सृष्टि न हो उठे, उसकी जड़ यदि जातिके अतीतके मर्मस्थलको फाड़कर न निकली हो, तो उसका फल अत्यन्त क्षणस्थायी होगा। यह फूल-समेत वृक्षकी शाखा—वह रंग और गंधमें चाहे जितनी कीमती क्यों न हो—एकदिन अवश्य ही सूख जायगी। कोई भी कौशल उसे रोककर न रख सकेगा।

आज यह सत्य अच्छी तरह समझ लेनेका दिन आ गया है कि ठगकर डुबाकर ही हो अथवा छीन-झपटकर ही हो, अनेक देशोंसे खींच लाकर जमा करना ही देशकी सम्पत्ति नहीं है। यथार्थ सम्पत्ति देशके प्रयोजनके बीचसे ही तैयार होती है। उसके सिवा जो है, वह केवल भार है, बिल्कुल कूड़ा-कर्कट है। दूसरोंका देखकर हम उस ऐश्वर्यके प्रति लुब्ध न हो उठें। हमारे ज्ञानने हमारे अतीतने हमें यही शिक्षा दी थी। आज दूसरोंकी शिक्षाके मोहसे हमने अपनी उस शिक्षाको हेय मान लिया हो तो वह परम दुर्भाग्यकी बात है। यह जो ट्रामें, यह जो मोटरें रास्तोंपर वायुके वेगसे दौड़

रही हैं, यह जो घर-घरमें बिजलीके पंखे चल रहे हैं, यह जो शहरोंमें प्रकाशकी मालाओंका आदि-अन्त नहीं है, यह जो सैकड़ों-हजारों विदेशी सभ्यताके तोड़-जोड़ या सामान विदेशसे ढोकर हमने घरमें जमा किये हैं, इनमेंसे कोई भी क्या हमारी यथार्थ सम्पत्ति है ? विगत युद्धके दिनोंकी तरह अगर किसी दिन फिर इन चीजोंकी आमदनीका मूल सूख जाय, तो जादूके तमाशेकी तरह इनका अस्तित्व हमारे देशसे उठ जानेमें देर न लगेगी। इन सबकी हमने सृष्टि नहीं की, सृष्टि करना जानते भी नहीं। दूसरोंके पाससे ढोकर लाये हैं। आज उन सब चीजोंके विना हमारा काम नहीं चलता; अथच, इनमेंसे कोई भी वस्तु हमारे यथार्थ प्रयोजनके भीतरसे तैयार नहीं हुई। यह जो देखा-देखीका प्रयोजन है, इसे यदि हम स्वय बना न सकें और छोड़ भी न सकें, तो दुष्ट-क्षुधाकी तरह वह केवल हमको एक ओर ललचावेगा और दूसरी ओर पीडित करता रहेगा। किन्तु पश्चिमने उनकी सृष्टि की है अपनी गरजसे। उनकी सभ्यतामें ये सब चीजें चाहिए। ये जो बड़े-बड़े जगी जहाज हैं, ये जो गोले-गोली-तोप-बदूक और गैसके नल हैं, ये जो हवाई जहाज और पनडुब्बियाँ हैं, ये सभी उनकी सभ्यताके अग-प्रत्यंग हैं। इसीसे कोई भी चीज उनके लिए बोझा नहीं है। वही उन लोगोंकी परिणति है, उनके नित नये आविष्कार देशकी प्रतिभाके भीतरसे ही विकसित हो रहे हैं। दूरसे हम लोग लोभ कर सकते हैं, नितान्त निरीह ढगके बाबूगिरीके सामान खरीद भी ला सकते हैं; किन्तु चाहे वाणिज्य जहाज हो चाहे मोटरगाड़ी, जबतक वह अपने लोगोंकी जरूरतसे, अपने देशमें, अपने यहाँकी सामग्रीसे नहीं बनती, तबतक चाहे जिस तरह, चाहे जितने रुपए देकर ही हम खरीद लावें, वह हमारे देशका सच्चा ऐश्वर्य नहीं है। इसीसे मैंचेस्टरके महीन वस्त्र, ग्लासगोका लिनेन और मसलिन, स्काटलैंडके ऊनी कपड़े—ये चाहे जितना हमारा जाड़ा दूर करें और चाहे जितना सौन्दर्य बढावें—कोई भी हमारी यथार्थ सम्पत्ति नहीं है, सब खालिस कूडा कर्कट है।

किन्तु मैं जरा अपने विषयसे हट गया। मैं कहता था कि मनुष्य केवल सच्चे प्रयोजनसे ही सृष्टि कर सकता है और सृष्टि किये विना वह कभी सच्ची सम्पदा नहीं पाता। किन्तु दूसरेसे सीखकर मनुष्य अधिकसे अधिक उतना ही तैयार कर सकता है जितना उसने सीखा है। उससे अधिक वह

सृष्टि नहीं कर सकता। सृष्टि करना शक्ति है। वह दिखाई नहीं पड़ती। यहाँतक कि पश्चिमके द्वारस्थ होनेपर भी नहीं। इस शक्तिका आधार है अपने ऊपर विश्वास और अपने ऊपर भरोसा—आत्मनिर्भरता। किन्तु जो शिक्षा हमें आत्मस्थ नहीं होने देती, अतीतकी गौरव-गाथाको मिटाकर आत्मसम्मानपर लगातार चोट करती है, कानोंको केवल यह सुनाती रहती है कि हमारे बाप-दादे केवल भूतोंके ओझा, मंत्र-तंत्र और ज्योतिषी आदिको ही लेकर व्यस्त थे, उन्हें कार्य कारणके संबंधका ज्ञान नहीं था और विश्व-जगतके अव्याहत नियमकी ही धारणा न थी—इसीसे हमारी यह दुर्दशा है, तो उस शिक्षामें चाहे जितना मजा हो, उसके साथ बिना बाधाके गलेमिलौवल जरा देख सुनकर करना ही अच्छा है।

पश्चिमकी सभ्यताके आदर्शमें मनुष्यको मारनेके सैकड़ों करोड़ों मंत्र-तंत्र, दूसरोंके देशमें उसके मुँहका कौर छीन लेनेके उनसे भी अधिक कल-कारखाने—ये सभी उसके प्रयोजनसे उसके अपने ही भीतर पैदा हुए हैं, किन्तु ठीक उन्हीं सबका हमारे देशकी सभ्यताके आदर्शमें प्रयोजन है या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु कविने कहा है कि उन्होंने ये सब बड़े काम निश्चय ही किसी एक सत्यके जोरसे किये हैं अतएव वह हमें सीखना चाहिए, क्योंकि उनकी विद्या सत्य है। और उसके बाद ही कहा है कि केवल विद्या ही तो नहीं, विद्याके साथ-साथ शैतानी भी है, अतएव उस शैतानीके योगसे ही उन लोगोंका मरण होगा।

हो सकता है। किन्तु जिस आदमीने केवल मारण-उच्चाटन विद्या सीखकर मंत्र-तन्त्र जपना शुरू कर दिया है, उसके लिए यह निर्णय करना कठिन है कि क्या विद्या है और क्या शैतानी है। कविने हमारे मुँहमें एक बात ठूँसकर कहा है—

"यही बात तो हम बार-बार कहते हैं। भेद-बुद्धि जिनकी (पाश्चात्योंकी) इतनी उग्र है, इस सारे विश्वको गोल-गोल पिंडकी तरह एक कौरमें लील लेनेके लिए जिनके लोभने इतना बड़ा मुँह फैला रक्खा है, उनके साथ हमारा कोई कारबार नहीं चल सकता, क्योंकि वे आध्यात्मिक नहीं हैं, हम आध्यात्मिक हैं। वे अविद्याको ही मानते हैं, हम विद्याको। ऐसी दशामें

उनकी सारी शिक्षा-दीक्षाको विशेष रूपसे त्याग करना चाहिए—उससे बचना चाहिए।"

ऐसी बात अगर किसीने कही भी हो तो मुझे जान पड़ता है, उसने कुछ अधिक अन्याय नहीं किया। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र हिंदू हैं या म्लेच्छ, यह कोई नहीं कहता। विद्याकी कोई जाति नहीं होती, यह बात सच है; किन्तु इसीसे यह कहना कि कल्चर या संस्कृतिकी भी कोई जाति नहीं है, किसी तरह सत्य नहीं। और उनकी शिक्षाको विषकी तरह छोड़नेके लिए अगर किसीने व्यवस्था दी हो तो वह केवल इसी कारण, विद्याके कारण नहीं। और अगर यही ठीक हो कि वे केवल अविद्याको ही मानते हैं और हम विद्याको मानते हैं, तो इन दोनोंके समन्वयका उपाय पुस्तकके भीतर, लेखके भीतर श्लोक उद्धृत कर करके हो भी सकता है, किन्तु वास्तव जगत्में एक दूसरेको निगल जानेके सिवा और किस तरह समन्वय हो सकता है, मैं नहीं जानता। जिनका निगल जाने लायक बड़ा फैला हुआ मुँह है, वे निगल ही लेंगे, मनु या उपनिषद्की दुहाई नहीं मानेंगे। कमसे कम अबतक तो नहीं मानी।

पश्चिमके इतने बड़े लङ्काकाण्ड (प्रथम महायुद्ध) के बाद भी जो आज उसकी पूँछके ऊपर सन्धिपत्रोंके स्नेह-सिक्त कागज पर्त-की-पर्त लपेटना जारी है और इतनी मारके बाद भी जो उसकी नाड़ी खूब सुस्थ और ताजी चल रही है, इसमें आश्चर्यकी बात क्या है? जिन्होंने वास्तवमें इस महायुद्धको छेड़ा था, उनके दोनों ही पक्ष बहुत सुस्थ देह और बहाल तबियतसे बचे हुए हैं, जीवित हैं। जिन्हें मरना था, वे मरे। और फिर अगर आवश्यक होगा कभी, तो उन्हींको फिर मरनेके लिए इकट्ठा कर लिया जायगा।

अतएव इन लोगोंमेंसे अगर किसीने शोकाकुल चित्तसे, कविसे प्रश्न किया हो कि 'भारतकी वाणी क्या है?' तो सन्देह होता है कि वे कुछ मजाक कर रहे हैं! और इसी लिए उनको न्यौता देकर घरमें बुला लाकर एकान्तमें 'मा गृधः' (मत लोभ करो या मत छीनो) इस मंत्रसे वश किया जायगा—यह भरोसा कविको भले ही हो, पर मुझे नहीं है। कारण, बाघको विष्णु मंत्र सुनानेसे वह वैष्णव होता है या नहीं, यह मैं नहीं सोच पाता।

और भी एक बात है। पश्चिमकी सभ्यताका एक बड़ा भारी मूल-मंत्र है

standard of living (जीवनका मानदंड या रहन-सहनका दर्जा) बड़ा बनाना। हमारे देशकी मूल-नीतिके साथ इसके अन्तरकी आलोचना करनेका स्थान यहाँ नहीं है, किन्तु उनकी समाज-नीतिकी चाहे जैसी व्याख्या क्यों न की जाय, उसकी असल बात या लक्ष्य है धनी होना। उनकी सामाजिक व्यवस्था, उनकी सभ्यता, और उनके धन-विज्ञानके साथ जिसका साधारण परिचय भी है, वह इस सत्यको अस्वीकार नहीं करेगा। इस धनी होनेका अर्थ केवल संग्रह करना ही नहीं है, साथ ही साथ परोसीको भी धनहीन कर देना इसका दूसरा उद्देश्य है। नहीं तो केवल धनी होनेका कोई अर्थ ही नहीं रहता! अतएव कोई एक सारा महादेश यदि केवल धनी होना चाहे तो अन्यान्य देशोंको वह ठीक उसी परिमाणमें गरीब बनाये बिना रह ही नहीं सकता। तो भी यह एक बात नित्य बराबर याद रखनेसे दुरूह समस्याका समाधान आप ही हो जाता है। यही पश्चिमका मेद-मज्जागत संस्कार है, यही उसकी सारी सभ्यताकी नींव है। इस नींवके ऊपर ही उसका विराट् राजमहल आसमानको छू रहा है। इसीके लिए उसकी सारी शिक्षा, सारी साधना लगी हुई है। आज क्या हमारे कहनेसे, हमारे ऋषियोंके वचनोंसे वह अपनी सारी सभ्यताके केंद्रको हिला देगा? हमारे संसर्गमें उसके बहुतसे युग बीत गये, किन्तु हमारी सभ्यताकी आँच तक उसने कभी अपने शरीरपर नहीं लगने दी। अपनेको ऐसा सावधान, ऐसा अलग, ऐसा पवित्र कर रक्खा है कि किसी दिन इसकी छाँह भी अपने ऊपर नहीं पढने दी। इस बहुत लंबे समयके बीच इस देशका राजाके मुकुटके कोहनूरसे लेकर पातालके कोयला तक जहाँ जो कुछ था, उसकी नजरसे बचा नहीं रहा। यह समझमें आता है, क्योंकि यही उसके लिए सत्य है, यही उसकी सभ्यताकी मोटी जड़ है। इसीसे वह अपने समाज देहकी सारी सभ्यताका रस सोखता है, किन्तु आज खामखा अगर वह भारतकी आधिभौतिक सत्य वस्तुओंके बदले भारतके आध्यात्मिक तत्त्व पदार्थकी खोज कर रहा हो, तो हम खुशी मनावें या होशियार हों, यह सोचनेकी बात है।

योरप और भारतकी शिक्षाओंमें असलमें विरोध इसी जगहपर है—इसी मूलमें है। हमारा ऋषिवाक्य चाहे जितना अच्छा हो, उसे वे ग्रहण नहीं करेंगे; कारण, उससे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वह उनकी सभ्यताका

विरोधी है। और अपनी शिक्षा भी वे हमको नहीं देंगे। बात सुननेमें खराब लगती है, पर है सच। और दें भी तो उसमें जितनी भिक्षा है, वह न लेना ही अच्छा। बाकी अंश अगर हमारी सभ्यताके अनुकूल न हो तो वह केवल व्यर्थ ही नहीं, कूड़ा है। उनकी तरह अगर हम औरोंको मारना न चाहें, पराये मुँहका अन्न छीनकर खानेको ही अगर चूड़ान्त सभ्यता न मानें, तो उनका वह मारण मन्त्र चाहे जितना सत्य हो, उसके प्रति निर्लोभ रहना ही भला।

और एक बात कहकर मैं इस प्रबन्धको समाप्त करूँगा। समयके अभावसे अनेक विषय नहीं कहे जा सके; किन्तु यह अवान्तर बात विना कहे भी मैं नहीं रह सका कि विद्या और विद्यालय एक ही चीज नहीं हैं। शिक्षा और शिक्षाकी प्रणाली, ये दोनों अलग अलग चीजें हैं। अतएव किसी एकका त्याग ही दूसरेका वर्जन नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि विद्यालय छोड़ना ही विद्या-लाभका बड़ा मार्ग हो। आपात दृष्टिसे बात उल्टी मालूम पड़ने पर भी उसका सत्य होना असभव नहीं है। तेल जलमें नहीं मिलता, ये दोनों पदार्थ एकदम उल्टी प्रकृतिके हैं। तो भी तेलका दीपक जलाते समय जो आदमी उसमे पानी डालता है, सो केवल तेलको पूरा पूरा जला देनेके लिए। जो लोग इस तत्त्वको नहीं जानते, उनमे थोड़ा-सा धैर्य रहना अच्छा है।×

महात्माजी

महात्माजी आज सरकारकी जेलमें हैं। भारतवासियोंके लिए यह समाचार कैसा और क्या है, यह केवल भारतवासी ही जानता है। तो भी सारा देश स्तब्ध हो रहा। देशव्यापी कड़ी हड़ताल नहीं हुई, शोकसे उन्मत्त नरनारियोंके समूह सड़कोंपर, रास्तोंमें, नहीं निकल पड़े, लाखों-करोडों सभा समितियोंमें हृदयकी गहरी व्यथा निवेदन करने कोई नहीं आया, जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं—जैसा कल था, आज भी सब ठीक वैसा ही है, कहीं रत्तीभर भी उलट-

× बंगला सन् १३२८ में 'गौड़ीय सर्वविद्या-आयतन' में पढ़ा गया निबन्ध।

पलट नहीं हुआ—इस तरह समुद्रतटसे हिमाचलतक सब चुप हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? इतना बड़ा असंभव काण्ड किस तरह संभव हुआ? नीचाशय ऐंग्लो-इंडियन अखबार जो जिसके मुँहमें आता है कहते हैं, किन्तु हररोजकी तरह उस मिथ्याका खंडन करनेको कोई उद्यत नहीं हुआ। जान पड़ता है, जैसे उनके भाराक्रान्त हृदयकी गंभीरतम वेदना आज तर्क-वितर्कसे दूर है।

जानेके पहले महात्माजी अनुरोध कर गये हैं कि उनके लिए कहीं कोई हड़ताल, किसी तरहकी प्रतिवाद-सभा, किसी प्रकारकी चंचलता या लेशमात्र क्षोभ न किया जाय। आज्ञा अत्यन्त कठिन है। किन्तु, तो भी, सारे देशने उनके इस आदेशको शिरोधार्य कर लिया है। यह कण्ठ-रोध, यह निःशब्द संयम, अपनेको दबाकर रखनेकी यह कठिन परीक्षा कितना बड़ा दुस्साध्य काम है, इस बातको वह अच्छी तरहसे ही जानते थे, तो भी इस आज्ञाका प्रचार कर जानेमें उन्हें तनिक भी अटक नहीं हुई। और एक दिन—जिस दिन उन्होंने विपद्ग्रस्त, दरिद्र, सताये गये और वंचित प्रजावर्गका परम दुःख राजाकी आँखोंके आगे उपस्थित करनेके लिए युवराजकी अभ्यर्थना और स्वागतका निषेध कर दिया था—उस अर्थहीन निरानन्द उत्सवके अभिनयसे सब तरह अलग रहनेके लिए प्रत्येक भारतवासीको उपदेश दिया था, उस दिन भी उन्हें कोई अटक नहीं हुई। यह उनसे छिपा नहीं था कि इसके परिणामस्वरूप राज रोषकी आग कहाँ और कितनी दूर तक फैलेगी; किन्तु कोई आशंका, कोई प्रलोभन उनके इरादेको बदल नहीं सका। इसको उपलक्ष्य करके देशके ऊपरसे कितने आँधी-तूफान, कितने वज्रपात, कितना ही दुःख गुजर गया, किन्तु उन्होंने जिसे सत्य और कर्त्तव्य ठीक किया था, युवराजके आगमनोत्सवके संबंधमें आखिरी दिन तक उन्होंने अपना वह आदेश नहीं लौटाया। उसके बाद अकस्मात् एक दिन चौरीचौरामें भयानक दुर्घटना घटित हो गई। निरुपद्रव होनेके संबंधमें देशवासियोंके प्रति उनका वह विश्वास हिल गया—तब यह बात सारी दुनियाके आगे निष्कपट भावसे मुक्तकंठ होकर प्रकट करनेमें उन्हें लेशमात्र दुविधा नहीं हुई। अपनी भूल और त्रुटि बारम्बार स्वीकार करके, विरुद्ध राजशक्तिके साथ शीघ्र होनेवाले

सुतीव्र संघर्षकी सब प्रकारकी संभावनाको उन्होंने अपने हाथसे रोक दिया। रत्तीभर भी वह नहीं हिचके। सिन्धसे आसाम और हिमालयसे दक्षिणके शेष प्रान्ततक सभी असहयोगवादियोंका मुख हताशा और निष्फल क्रोधसे स्याह हो उठा, और फौरन ही दिल्लीकी अखिल भारतीय कांग्रेसकी कार्यकारिणी समितिकी बैठकमें उनके सिर परसे गुप्त और प्रकट लांछनाकी जैसे एक आँधी निकल गई। किन्तु वह उन्हें विचलित नहीं कर सकी। एक दिन जो उन्होंने विनयके साथ अत्यन्त संक्षेपमें कहा था कि I have lost all fear of man अर्थात् जगदीश्वरके सिवा मनुष्यको मैं नहीं डरता, इस सत्यको केवल प्रतिकूल राजशक्तिके आगे ही नहीं, एकान्त अनुकूल सहयोगियों और भक्त अनुचरोंके आगे भी प्रमाणित कर दिया। राजपुरुषों और राजशक्तिके अनाचार और अत्याचारकी तीव्र आलोचना इस देशमे निडर होकर और भी अनेक लोग कर गये हैं और उसके दण्डका भोग भी उन लोगोंके भाग्यमें कुछ हल्का नहीं हुआ है, तथापि उन लोगोंको निर्भयताकी परीक्षा केवल इसी तरफसे देनी पड़ी थी। किन्तु इससे भी बड़ी और कठिन जो एक परीक्षा थी—अनुरक्त भक्त जनोंकी अश्रद्धा, अभक्ति और व्यंग-विद्रूपका दण्ड—इस बातको लोग एक प्रकारसे भूल गये थे—जानेके पहले देशके आगे इस परीक्षाको ही पास होकर उन्हें जाना पड़ा, अत्यन्त स्पष्ट करके दिखा जाना पड़ा कि मान-सम्भ्रम, मर्यादा, यश, यहाँ तक कि जन्मभूमिके ऊपर भी सत्यको स्थापित कर पाये बिना ऐसा कर पाना असंभव है।

किन्तु इतनी बड़ी शान्त शक्ति और शुद्ध सत्यनिष्ठाकी मर्यादाको धर्महीन उद्दण्ड राजशक्ति नहीं समझ सकी; उसने उन्हें लांछन लगाया, लांछित किया। महात्माजीको उस दिन रातमें गिरफ्तार किया गया। कुछ दिनोंसे यह संभावना अफवाहोंमें तैर रही थी, अतएव यह गिरफ्तारी आकस्मिक भी नहीं है, आश्चर्यकी बात भी नहीं है। जेलकी सजा होना अनिवार्य है। इसमें भी विस्मयकी बात कुछ नहीं है। लेकिन सोचनेकी बात अवश्य है। चिन्ता व्यक्तिगत भावसे उनके अपने लिए नहीं है। यह चिन्ता समष्टिगत भावसे सारे देशके लिए है। जो अनन्य भावसे सत्यनिष्ठ हैं, जो मन-वाणी-कायासे हिंसाको छोड़े हुए हैं, स्वार्थके नामसे जिनका कहीं भी कुछ भी नहीं है,

आर्त्तोंके लिए—पीड़ितोंके लिए जो सन्यासी हैं,—इस अभागे देशमें ऐसा कानून भी है, जिसके अपराधसे इस आदमीको भी आज जेल जाना पड़ा। देशके कल्याणमें ही राजलक्ष्मीका कल्याण है, प्रजाकी भलाईमें ही राजाकी भलाई है—शासनतन्त्रका यह मूलतत्त्व आज इस देशमें सत्य है कि नहीं, यहाँ देशके हितके लिए ही राज्यकी परिचालना होती है कि नहीं, प्रजाका भला होनेसे ही राजाका भला होता है या नहीं, यह आँखें खोलकर आज देखना होगा। अपनेको धोखा देकर नहीं, पराये ऊपर मोहका विस्तार करके नहीं, हिंसा और और चिढ़का निष्फल अग्निकाण्ड करके नहीं, जेल्में बंद महात्माजीके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करके, उन्हींकी तरह शुद्ध और एकाग्र होकर और उन्हींकी तरह लोभ, मोह और भयको सब ओरसे जीतकर। निरर्थक जेल जाकर नहीं—जेलमें बंद होनेका अधिकार प्राप्त करके।

शायद यह अच्छा ही हुआ है। शासन-यन्त्रके नागपाशमें आज वह बँधे हुए हैं। वह जिसे बहुत चाह रहे थे, उस विश्रामकी बातको न हो मैंने छोड़ ही दिया, किन्तु जब आज देशका भार देशके माथे आ पड़ा है, तब एक बात, जिसे वह बार-बार कह गये हैं कि 'कभी किसीके भी हाथसे दानकी तरह स्वाधीनता नहीं ली जाती, लेनेपर भी वह नहीं टिकती, उसे हृदयके रक्तसे प्राप्त करना होता है,' उसे पूरा करनेका, उनकी अनुपस्थितिमें अपनेको सार्थक करनेका यह परम सुयोग शायद आज सब प्रकारसे हमें नसीब हुआ है। जो लोग बाहर रह गये हैं, वे बिल्कुल ही साधारण मनुष्य हैं। किन्तु जान पड़ता है, असाधारणताका परम गौरव आज उन्हींकी प्रतीक्षा कर रहा है।

और भी एक परम सत्य वह स्पष्ट कर गये हैं। कोई देश जब स्वाधीन, सुस्थ और स्वाभाविक अवस्थामें रहता है, तब देशात्मबोधकी समस्या भी खूब जटिल नहीं होती और स्वदेश प्रेमकी परीक्षा भी एकदम अत्यन्त कड़े रूपमें नहीं देनी होती। तब उस देशके नेतृत्वके योग्य लोगोंको बड़े यत्नसे छाँटे बिना भी शायद काम चल जाता है। किन्तु वह देश यदि कभी पीड़ित, रोगी, और मरणासन्न हो उठे, तब इस ढीले ढाले कर्त्तव्यका फिर अवकाश नहीं रहता। तब जो लोग इस दुर्दिनको पार कर ले जानेका भार ग्रहण करते हैं, उनको सब देशोंकी सारी आँखोंके सामने परार्थपरताकी अग्निपरीक्षा देनी

होती है। बातोंसे नहीं—कामोंसे, चालाकीके मार-पेंचसे नहीं—सरल सीधे रास्तेसे, स्वार्थका बोझा लादकर नहीं—सब चिन्ता, सारा उद्वेग, सम्पूर्ण स्वार्थ जन्मभूमिके चरणोंमें पूर्णरूपसे बलि देकर। इससे अन्यथा विश्वास नहीं किया जा सकता। हमारे इस परम सत्यको भूलनेसे अब किसी तरह काम न चलेगा। इसी परीक्षाको देने जाकर आज सैकड़ों हजारों भारतवासी राजाके जेलखानेमें बद हैं और इसी लिए कारागारको 'स्वराज-आश्रम' नाम देकर उन्होंने आनन्दसे राजदण्डको शिरोधार्य कर लिया है।

आज प्रजाके कल्याणके साथ राजशक्तिका कठिन विरोध ठन गया है। यह संघर्ष कब समाप्त होगा, यह केवल जगदीश्वर ही जानते हैं; किन्तु राजा और प्रजामें यह संघर्षकी आग प्रज्वलित करनेके जो सर्वप्रधान पुरोहित हैं, वह यद्यपि आज कारागारमें बंद हैं, तथापि इस विरोधका मूल तथ्य फिर एक बार नये सिरेसे देखनेका समय आगया है। सशय और अविश्वास ही सारे सद्भाव, सकल बंधन, सारे कल्याणको पलपलमें क्षय करता रहा है। शासनतन्त्रने यह कहा। प्रजावर्ग इसका जवाब देता है—ना, यह बात नहीं है, तुम मिथ्या कहते हो। राजशक्ति कहती है—तुमको यह देंगे, इतने दिनमें देंगे। प्रजाशक्ति आँख उठाकर सिर हिलाकर कहती है—तुम हमको किसी दिन कुछ न दोगे—कोरी वंचना करते हो!

"यह तुमसे किसने कहा?"

किसने कहा! हमारी सब अस्थिमज्जा, हमारी सारी प्राणशक्ति, हमारा धर्म, हमारा मनुष्यत्व, हमारे पेटकी सब नाड़ी-नसें तक ऊँचे स्वरसे चिल्लाकर केवल यही बात बराबर लगातार कहनेकी चेष्टा कर रही हैं। किन्तु सुनता कौन है? चिरकालसे तुम सुननेका ढोंग करते रहे हो, किन्तु सुना नहीं। आज भी केवल वही पुराना अभिनय फिर एक बार नये सिरेसे कर रहे हो। तुमको सुनानेकी व्यर्थ चेष्टामें दुनियाके सामने हम वेहद लज्जित और हीन बने हैं। अब हममें उसकी प्रवृत्ति नहीं है। तुम्हारे आगे नालिश नहीं करेंगे। केवल और एक बार अपनी वेदनाकी कहानी देशके लोगोंके आगे एक एक करके व्यक्त करेंगे।"

भूतपूर्व भारतसचिव मांटेगू साहब जब उस दफा भारतवर्षमें आये थे, तब

इस वंगालके ही एक विश्वविख्यात वंगालीने उनको एक बड़ी सी चिट्ठी लिखी थी और उसका एक लम्बा-चौड़ा उत्तर भी पाया था । किन्तु आदिसे अन्ततक अच्छी अच्छी निस्सार बातोंके बोझसे भरी उस भारी चिट्ठीकी चालबाजीके सिवा और कुछ भी मुझे याद नहीं है, और जान पड़ता है, ऐसी बातें याद भी नहीं रहतीं। किन्तु इस पक्षका स्थूल वक्तव्य मुझे खूब याद है। इन्होंने बार-बार करके और विशद करके यह विश्वास अविश्वासकी बहस ही चार सफेकी चिट्ठीमें भरकर साहबको समझाना चाहा था कि विश्वास किये विना विश्वास नहीं प्राप्त होता। जैसे इतनी बड़ी नूतन तत्त्वकी बात इस भारतभूमिको छोड़कर विदेशी साहबके लिए और कहीं सुननेकी संभावना ही न थी। अथ च, मुझे विश्वास है कि साहबकी अवस्था कम होनेपर भी यह तत्त्व उन्होंने पहले पहल नहीं सुना और पहली जानकारी भी लेकर वे नहीं गये। इसीसे साहबको केवल ऐसी सब बातें और भाषा लिखनी पड़ी थी जो कि चिट्ठीके सफे भर देती हैं, किन्तु अर्थ कुछ नहीं रखती।

किन्तु यह बात क्या वास्तवमें सत्य है? जगत्में क्या कहीं इसका व्यतिक्रम नहीं देख पड़ता? गवर्नमेंट हमको धन देकर विश्वास नहीं करती, पल्टन देकर विश्वास नहीं करती, पुलिस देकर विश्वास नहीं करती, यह ऐसा सत्य है जिसके विषयमें कोई मतभेद नहीं है। किन्तु केवल इसी लिए क्या हम विश्वास नहीं करेंगे और इसी युक्तिके जोरसे देशके सब प्रकारके राजकाजके साथ असहयोग किये बैठे रहेंगे? मालूम नहीं, गवर्नमेंट इसकी क्या क्या कैफियत देती रहती है। बहुत सभव है, कुछ भी नहीं देती। और अगर देती भी है तो शायद वही माटेगू साहबकी तरह ही देती है— जिसमें बहुत-से अच्छे शब्द रहते हैं, किन्तु अर्थ नहीं रहता। किन्तु अगर वे अपनी आफिशियल (सरकारी या आफिसकी) बोली छोड़कर स्पष्ट करके कहते हैं कि तुमको ये सब चीजें देकर हम विश्वास नहीं करते, यह बिल्कुल सच है; लेकिन यह केवल तुम्हारी ही भलाईके लिए। तो हम रुष्ट होकर जवाब देते हैं कि यह कैसी बात है? विश्वास क्या कभी एकतरफा होता है? तुम न विश्वास करोगे तो हम ही कैसे विश्वास करेंगे?

दूसरी ओरसे यदि प्रत्युत्तर आता कि वह वस्तु देश, काल और पात्रके

भेदसे एकतरफा होना असभव भी नहीं है, अस्वाभाविक भी नहीं है, तो सिर्फ गलेके जोरसे विजयी नहीं हुआ जा सकता। और प्रतिप्रपक्ष यदि एक साधारण उदाहरणकी तरह कहता कि पीड़ित रुग्ण व्यक्ति जब आपरेशनके समय आँखें मूँदकर डाक्टरके हाथमें आत्मसमर्पण करता है, तब विश्वास एकतरफा ही होता है। पीड़ितके विश्वासके अनुरूप जमानत डाक्टरसे कोई नहीं तलब करता और तलब करनेपर भी वह नहीं मिलती। चिकित्सककी अभिज्ञता, पारदर्शिता, उसकी साधु सत् इच्छा ही एकमात्र जमानत है, और वह सपूर्णरूपसे उसीके अपने हाथमें है। वह दूसरेको दी नहीं जा सकती। रोगीको अपने ही कल्याणके लिए, अपने ही प्राण बचानेके लिए डाक्टरका विश्वास करना होता है।

इस पक्षसे भी इसका प्रत्युत्तर हो सकता है कि यह उदाहरणमें ही चलता है, वास्तवमें नहीं चलता। कारण विना संकोचके आत्मसमर्पण करनेकी भी जमानत है; किन्तु वह कहीं बड़ी है और उसे चिकित्सकके हृदयमें बैठकर स्वयं भगवान् लेते हैं। उनके लेनेका दिन जब आता है, तब न चकमा चलता है, न बहस चलती है। इसीसे जान पड़ता है, सब छोड़कर महात्माजीने राजशक्तिके हृदयपर ही जोर दिया था। मार-काट, खून खराबी, अस्त्र-शस्त्र अथवा बाहुबलकी ओर ही वह नहीं गये—उनका सारा आवेदन निवेदन, अभियोग-अनुयोग इसी आत्माके निकट है। राजशक्तिमें हृदय या आत्माका कोई झंझट नहीं भी रह सकता है; किन्तु इस शक्तिका सचालन जो करते हैं, उन लोगोंने भी छुटकारा नहीं पाया। और सहानुभूति ही जब जीवके सब सुख-दुःख, सब ज्ञान, सब कर्मोंका आधार है, तब इसीको जगानेके लिए महात्माजीने प्राणपण किया था। आज स्वार्थ और अनाचारसे यह सहानुभूति चाहे जितनी मलिन, चाहे जितनी ढकी हुई क्यों न हो, एक दिन इसे वह निर्मल और मुक्त कर सकेंगे—यह उनका अटल विश्वास क्षणभरके लिए भी ढीला नहीं हुआ। किन्तु लोभ और मोहसे स्वार्थको, क्रोध और विद्वेषसे हिंसाको निवृत्त या बद नहीं किया जा सकता—इस बातको महात्माजी जानते थे। इसीसे दुःख देकर नहीं—दुःख सहकर, वध करके नहीं—अकुंठित चित्तसे अपनी बलि देनेके लिए ही वह इस धर्मयुद्धमें उतरे थे। यही थी उनकी

तपस्या, इसीको उन्होंने वीरका धर्म कहकर निष्कपट भावसे इसका प्रचार किया था। सारे पृथ्वीमण्डलमें यह जो उद्धत अविचारकी चक्कीमें मनुष्य दिन रात पिसकर मर रहा है, इसका एकमात्र हल गोली-गोले, बदूक-बारूद और तोपमें नहीं है; है केवल मनुष्यकी प्रीतिमें, इसकी आत्माकी उपलब्धिमें—इस परम सत्यपर वह सम्पूर्ण हृदयसे विश्वास रखते थे, इसीसे अहिंसा-व्रतको केवल क्षणभरका उपाय मानकर नहीं, चिरजीवनका एकमात्र धर्म समझकर उन्होंने ग्रहण किया था। और इसी लिए उन्होंने इस भारतीय आन्दोलनको राजनीतिक न कहकर आध्यात्मिक कहकर समझानेकी चेष्टामें दिनपर दिन प्राणपात परिश्रम किया था। विपक्षने हँसी उड़ाई, अपने पक्षने अविश्वास किया, पर दोनोंमेंसे कोई उन्हें विभ्रान्त नहीं कर सका। अँगरेजोंकी राजशक्तिके प्रति महात्माजीका विश्वास जाता रहा है, किन्तु मनुष्य अँगरेजोंकी आत्मोलब्धिके प्रति आज भी उनका विश्वास वैसे ही स्थिर और अटल बना हुआ है।

किन्तु इस अचचल निष्कम्प दीपशिखाकी महिमा समझ पाना बहुतोंके लिए दुःसाध्य है। इसीसे उस दिन श्रीयुत विपिनबाबू (सुप्रसिद्ध विपिनचद्र पाल) ने जब महात्माजीका यह कथन " I would decline to gain India's freedom at the cost of non-violence, meaning that India will never gain her freedom without non-violence. " (अर्थात् अहिंसाकी कीमतपर मैं भारतकी स्वाधीनता लेना स्वीकार न करूँगा, मतलब यह कि भारत बिना अहिंसाके अपनी स्वाधीनता नहीं ग्रहण करेगा) उद्धृत करके यह समझाना चाहा था कि 'महात्माजीका लक्ष्य सत्याग्रह है, भारतकी स्वाधीनता या स्वराजका लाभ इस लक्ष्यका एक अग हो सकता है, किन्तु मूल लक्ष्य नहीं है', तब वह भी इस दीपशिखाके रूपको हृदयगम नहीं कर सके थे। दूसरेकी सम्पूर्ण स्वाधीनताके ऊपर हस्तक्षेप न करके मनुष्यकी पूर्ण स्वाधीनता कितनी बड़ी सत्य वस्तु है और इसके प्रति द्विधाहीन आग्रह भी कितनी बड़ी स्वराजकी साधना है, इसकी उपलब्धि वह भी नहीं कर सके। सत्यके अग प्रत्यग, जड़ और शाखा आदि नहीं हैं। सत्य सम्पूर्ण वस्तु है और सत्य ही सत्यका शेष है। और इस चाहनेके भीतर ही

मानव-जातिके सब प्रकारके और सर्वोत्तम लक्ष्यकी परिणति विद्यमान है। देशकी स्वाधीनता या स्वराज उन्होंने सत्यके भीतरसे ही चाहा है; मारकाट करके लेना नहीं चाहा। इस तरह चाहा है, जिससे वह आप भी धन्य हो जाय। उसके क्षुब्ध चित्तका कृपणका दिया धन नहीं, उसके दाताके प्रसन्न हृदयका सार्थकताका दान चाहा है। ऐसा छीना-झपटीका देना लेना तो ससारमें बहुत हो गया है; किन्तु वह स्थायी नहीं हो सका—दुःख, कष्ट, वेदनाका भार केवल बढ़ता ही चला जा रहा है, कहीं भी तो एक तिलभर भी कम नहीं हुआ। इसीसे वह आज उन सब पुराने परिचित और क्षणस्थायी असत्यके मार्गोंसे विमुख होकर सत्याग्रही हुए थे, प्रण किया था कि मानवात्माके सर्व-श्रेष्ठ दानके सिवा और कुछ भी वह हाथ फैलाकर नहीं ग्रहण करेंगे।

सम्पूर्ण अन्तःकरणसे स्वाधीनता और स्वराज्यकी कामना करके वह जब अँगरेजी राज्यके सब प्रकारके संसर्गको त्याग करनेके लिए राजी नहीं हुए थे, तब उन्हें बहुत-सी कड़वी बातें और गालियाँ सुननी पड़ी थीं। बहुत-सी कटूक्तियोंके बीच एक तर्क यह था कि "अँगरेजी राज्यके साथ हम लोगोंका चिरदिनके लिए अविच्छिन्न बन्धन किसी तरह सत्य नहीं हो सकता और निरुपद्रव शान्तिके लिए ही इतना व्याकुल होनेकी क्या जरूरत है? जब पराधीनता पाप है और पराई स्वाधीनताको छीननेवाला भी जब इतना बड़ा पापी है, तब चाहे जिस तरह हो, इससे मुक्त होना ही धर्म है। अँगरेजोंने यहाँ निरुपद्रव मार्गसे राज्य नहीं स्थापित किया और उसके लिए रक्तपात करनेमें भी सकोच नहीं किया; तब केवल हम लोगोंको ही निरुपद्रवपंथी रहना होगा, इतनी बड़ी जिम्मेदारी हम काहेके लिए ग्रहण करें?"

किन्तु महात्माजीने इसपर कान नहीं दिया। वह जानते थे कि यह युक्ति सत्य नहीं है, इसके भीतर एक भारी भूल छिपी हुई है। वास्तवमें यह बात किसी तरह सत्य नहीं है कि जगत्में जो कुछ एक दिन अन्यायकी राहसे, अधर्मके मार्गसे स्थापित हो गया है, उसे आज मिटाना या ध्वंस करना ही न्याय है—चाहे जिस तरहसे हो, उसे दूर करना ही, आज धर्म है। एक दिन जिस अँगरेजी राज्यको प्रतिहत करना ही देशका सर्वश्रेष्ठ धर्म था, उसे उस दिन हम रोक नहीं सके—इस लिए आज चाहे जिस उपाय या मार्गसे

उसे नष्ट करना ही देशका एकमात्र धर्म है—यह बात किसी तरह जोर करके नहीं कही जा सकती। अवांछित जारज सन्तान अधर्मकी राहसे ही जन्म लेती है, अतएव उसकी हत्या करके ही धर्महीनताका प्रायश्चित्त हो सकता है, ऐसा कहना सत्य नहीं है। *

सत्याश्रयी

छात्र, युवक और एकत्र हुए बंधुओ,

बंगलाभाषामें शब्दोंका अभाव नहीं था, अथच इस आश्रमकी स्थापना करनेवालोंने छाँटकर इसका नाम रक्खा था 'अभय आश्रम'। बाहरके लोक-समाजमें इस प्रतिष्ठानको अभिहित करनेके अनेक नाम थे, तो भी उन्होंने इसे कहा—अभय आश्रम। बाहरका परिचय तो गौण है, जान पड़ता है जैसे संघकी स्थापना करके उन्होंने विशेष भावसे अपने ही लोगों (सदस्यों) से कहना चाहा था कि स्वदेशके काममें हम निर्भय हो सकें, इस जीवनके यात्रा पथमें हमें भय न रहे। सब प्रकारके दुःख, दैन्य और हीनताकी जड़में मनुष्यत्वके सबसे बड़े शत्रु भयकी उपलब्धि करके उन्होंने विधातासे अभयके वरदानकी प्रार्थना कर ली थी। नामकरणके इतिहासमें इस तथ्यका मूल्य है और आज मेरे मनमें कोई संशय नहीं है कि उनका वह आवेदन विधाताके दरबारमें मंजूर हो गया है। कामोंके जरिए इन लोगोंके साथ मेरा अनेक दिनोंका परिचय है। दूरसे सामान्य-सा जो कुछ इनके कामोंका विवरण मैं सुन पाता था, उससे मेरे मनमें यह आकांक्षा प्रबल हो उठी थी कि एक बार जाकर अपनी आँखोंसे सब देख आऊँगा। उसीसे, मेरे परम प्रीतिपात्र प्रफुल्लचन्द्रने जब मुझे सरस्वती-पूजाके उपलक्ष्यमें यहाँ आनेका निमंत्रण दिया, तब उनके उस निमंत्रणको मैंने अत्यन्त आनन्दके साथ ही ग्रहण किया। केवल एक शर्त करा

---

* बंगलाके मासिकपत्र 'नारायण' की बंगला सन् १३२९ की वैशाख संख्यामें प्रकाशित लेख।

ली कि अभय आश्रमकी ओरसे मुझे यह अभय दिया जाय कि मचपर चढाकर मुझे असाध्य-साधनके लिए नियुक्त न किया जायगा और वक्तृता देनेकी विभीषिकासे मुझे छुटकारा दिया जायगा। जीवनमें मैं अगर किसी चीजसे डरता हूँ तो इसीसे। लेकिन यह भी कह दिया था कि अगर समय मिलेगा तो दो-चार सतरें लिखकर ले आऊँगा। वह लिखना प्रयोजनकी दृष्टिसे भी मामूली होगा और उपदेशकी दृष्टिसे भी कुछ विशेष कामका न होगा। इच्छा थी कि बातोंका बोझा अधिक न बढाकर उत्सवके मिलने-जुलनेमें आप लोगोंके पाससे आनन्दका सचय लेकर घर लौटूँगा। मैं अपने उस सकल्पको नहीं भूला और इन दो दिनोंमें सचयके बारेमें ठगा भी नहीं गया। किन्तु यह मेरे अपने पक्षकी बात है। बाहर भी एक पहलू है। वह जब सामने आ पड़ता है, तब उसकी जिम्मेदारीसे भी मुँह नहीं मोडा जा सकता। तभी आ गया प्रफुल्लचन्द्रका छपा हुआ कार्यक्रम। रवाना होना होगा, समय नहीं है। किन्तु पढकर देखा, अभय आश्रमने पश्चिम-विक्रमपुर निवासी छात्र युवकोंके मिलन-क्षेत्रका आयोजन किया है। लड़के यहाँ इकट्ठे होंगे। वे मुझे न छोड़ेंगे; कहेंगे—हमने किशोर-अवस्थासे आपकी छपी हुई पुस्तकोंमें आपकी अनेक बाते पढी-सुनी हैं। आज भी जब हमने आपको अपने पास पाया है तब कुछ न कुछ सुने बिना नहीं छोड़ेंगे। उसीके फलस्वरूप ये कुछ पंक्तियाँ मैंने लिखी हैं। आप सोचेंगे,—सो अच्छा तो है,—लेकिन इतनी बड़ी भूमिकाकी क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तरमें मैं एक बात स्मरण करा देना चाहता हूँ और वह यह कि भीतर जब तत्त्व कम रहता है, तब मुखबधके आडम्बरसे ही श्रोताओंका मुह बंद करनेका प्रयोजन होता है।

अपनी चिन्तनशीलताद्वारा कोई नई बात कहनेकी शक्ति या सामर्थ्य मुझमें कुछ भी नहीं है। आप लोग स्वदेशवत्सल नेता जनोंके मुँहसे बहुत-सी सभा-समितियोंमें जो सब बातें बहुत बार सुन चुके हैं, केवल वही सब बातें मैं लिखकर ले आया हूँ। सोचा है, नयापन न सही, मौलिकत्व चाहे जितना बड़ा हो, उससे भी बड़ी बात सत्य है। पुरानी होनेके कारण वह तुच्छ नहीं है। उसे और एक बार स्मरण करा देना भी बड़ा काम है। इसलिए आज केवल दो-तीन बातोंका ही आप लोगोंके आगे उल्लेख करूँगा।

कुछ दिनोंसे एक बातको मैं लक्ष्य करता आ रहा हूँ। सोचता हूँ, इतना बड़ा सत्य इतने दिनों तक छिपा कैसे रहा? उस दिनतक सभी जानते, सभी मानते थे कि पालिटिक्स (राजनीति) केवल बूढ़ोंके ही इजारेकी चीज है। आवेदन-निवेदन और मान-अभिमानसे लेकर आँखें दिखाने तक विदेशी राजशक्तिके साथ जो कुछ मुकाबलेकी जिम्मेदारी है, सब उन्हींकी है। इसमें लड़कोंका प्रवेश एकदम मना है। वह उनके लिए केवल अनधिकार चर्चा ही नहीं, निन्दनीय अपराध है। वे स्कूल-कालिजमें जायें, शान्त शिष्ट अच्छे लड़के बनकर परीक्षाएँ पास करके मा-बापका मुख उज्ज्वल करें—यही छात्र-जीवनकी सर्वसम्मत नीति थी। यह कोई सपनेमें भी नहीं सोच पाता था कि इसमें कोई व्यतिक्रम हो सकता है—इसके विरुद्ध कोई प्रश्न तक उठ सकता है। एकाएक कहींकी किसी उल्टी तेज हवाने इसके केंद्रको ठेलकर एकदम जैसे परिधि (घेरे) के बाहर फेंक दिया। बिजलीकी शिखा जैसे अकस्मात् घने गहरे अन्धकारकी छातीको चीरकर वस्तुको प्रकाशमें लाती है, ठीक वैसे ही आज निराशा और वेदनाकी अग्निशिखाने सत्यको उद्घाटित कर दिया है। जो आँखोंकी ओट था, वह नजरके सामने आ पड़ा है। सारे भारतवर्षमें कहीं भी आज सन्देहका लेश भी नहीं रहा कि इतने दिन लोग जो सोचते आये हैं, वह भूल है। उसमें सत्य न होनेसे ही विधाताने बार-बार व्यर्थताकी कालिमा देशके सारे अंगमें पोत दी है। यह भारी भार वृद्धोंके लिए नहीं है, यह भार जवानीके लिए है। इसीसे तो आज स्कूल-कालेजोंमें, शहरों और गाँवोंमें, भारतके घर-घरमें यौवनकी पुकार हो रही है। वृद्धोंने नहीं पुकारा, पुकारा है स्वयं विधाता पुरुषने। उनकी यह पुकार कानोंके भीतर जाकर इन युवकोंके हृदयमें पहुँच गई है कि जननीके हाथ पैरोंमें बँधी हुई यह कठिन शृंखला तोड़नेकी शक्ति अति प्राज्ञ बूढ़ोंकी हिसाबी बुद्धिमें नहीं है, यह शक्ति केवल तरुणोंके प्राण-चंचल (जोशसे भरे) हृदयके भीतर है। इस निःसंशय आत्म-विश्वासमें आज उन्हें प्रतिष्ठित होना ही होगा। इतने दिन तक विदेशी बनिया-राजशक्तिको कोई चिन्ता ही न थी। वृद्धोंकी राजनीति चर्चाको वह एक खेल ही समझती आ रही थी, किन्तु अब उसे खेलनेका अवकाश नहीं, हर तरफ क्या इसके चिह्न आपको दिखाई नहीं पड़ते? अगर नहीं देख पड़ते तो मैं आपसे आँखें खोलकर देखनेको कहता हूँ। आज राजशक्ति व्याकुल हो उठी

है, और भविष्यमें इस अन्ध-व्याकुलतासे देश छा जायगा—यह सत्य भी आज समस्त हृदयसे उपलब्ध करनेके लिए मैं आपसे कहता हूँ। और यह भी कहता हूँ कि उस दिन इस सत्योपलब्धिका अपमान या अनादर न हो।

यहाँ एक बात कहे रखता हूँ। कारण, सन्देह हो सकता है कि सभी देशोंमें तो राजनीतिके सञ्चालनका भार बूढ़ोंके कंधोंपर रक्खा रहता है, फिर यहाँ उसका अन्यथा क्यों होगा? अन्यथा यहाँ भी न होगा, एक दिन उन्हींके ऊपर राज्यशासनका भार पड़ेगा। किन्तु वह दिन आज नहीं है। अभी वह नहीं आया। कारण, देशका शासन करना और उसे स्वाधीन करना एक ही बात नहीं है। यह बात याद रखनेकी बड़ी जरूरत है कि राजनीतिका परिचालन एक पेशा है। जैसे डाक्टरी, वकालत, प्रोफेसरी आदि। अन्यान्य सब विद्याओंकी तरह इसकी भी शिक्षा प्राप्त करनी होती है। इसे भलीभाँति सीखने-समझनेमें समय लगता है। तर्कके दाव-पेंच, बातोंके खंडन-मंडनकी लड़ाई, आईनके छिद्र खोजकर दो-एक कड़ी बातें सुना देना और यथासमय आत्मसंवरण तथा विनम्र भाषण देना—ये सब कठिन कसरतें हैं और अवस्था बढे बिना इनमें पारदर्शिता नहीं उत्पन्न होती। इसीका नाम पालिटिक्स है। स्वाधीन देशमें इससे जीविका चलती है। किन्तु पराधीन देशकी यह व्यवस्था नहीं है। वहाँ देशकी मुक्ति प्राप्त करनेकी राहमें पग पग पर अपनेको सब सुखोंसे वंचित करके चलना होता है। यह तो उसका पेशा नहीं है, यह उसका धर्म है। इसीलिए इस परम त्यागका व्रत केवल जवानी ही ले सकती है। यह उसकी स्वाधिकार-चर्चा है, अनधिकार-चर्चा नहीं है और इसीसे राजशक्तिने इसे भयकी दृष्टिसे देखना शुरू कर दिया है। यही स्वाभाविक है और इसकी गतिके मार्गमें बेशुमार बाधाएँ आवेंगी—यह भी वैसा ही स्वाभाविक है। किन्तु इस सत्यको क्षोभके साथ नहीं, आनन्दहीके साथ मान लेकर आगे बढनेके लिए आज मैं आप लोगोंको बुलाता हूँ—आह्वान करता हूँ।

शब्दोंकी घटा और वाक्यकी छटासे उत्तेजनाकी सृष्टि करना मुझे नहीं आता—उसमें मैं असमर्थ हूँ। शान्त एकाग्र चित्तसे सत्यकी उपलब्धि करनेका ही मैं अनुरोध करता हूँ। हम अपनेको भूली हुई जातिके हैं, हमारे

यह था, वह था, यह था, और यह है, यह है, यह है,—अतएव नींद तोड़कर आँखें मलकर उठ बैठते ही सब पा जावेंगे, यह जादूके चमत्कारका आश्वासन देनेकी प्रवृत्ति मुझमें कभी किसी समय नहीं होती। दुनिया माने या न माने, हम बहुत बड़ी जातिके हैं—यह बात घमंडके साथ चारों ओर घोषणा करते घूमनेमें भी जैसे मैं गौरव नहीं मानता, वैसे ही विदेशी राजशक्तिको भी धिक्कार देते हुए उन्हें सम्बोधन करके यह कहनेमें मुझे लज्जा आती है कि हे अँगरेज, तुम कुछ नहीं हो, क्योंकि अतीत कालमें हमने जब ये ये बहुत बड़े बड़े काम किये हैं, उस समय तुम पेड़ोंकी डालोंपर रहते और घूमते थे। और अगर व्यंग करके कोई मुझसे कहे कि तुम लोग अगर सचमुच ही इतने बड़े हो तो हजार वर्षोंसे कभी पठानोंके, कभी मुगलोंके, कभी अँगरेजोंके तलवे क्यों चाटते रहे, उनके पैरोंके तले अपना सिर क्यों मुड़ाते रहे, तो इस उपहासके प्रत्युत्तरमें मुझे इतिहासकी पोथी खोजकर अन्यान्य जातियोंकी दुर्दशाकी नजीरें दिखानेमें भी घृणा मालूम होती है। वास्तवमें इस बहससे कोई लाभ नहीं है। विगत दिनोंमें तुम्हारे या मेरे क्या था, इसके ऊहापोहसे ग्लानि बढ़ाकर क्या होगा? मैं कहता हूँ कि अँगरेज, आज तुम बड़े हो, शूरता, वीरता और स्वदेशप्रेममें तुम्हारी जोड़ नहीं है, किन्तु हमारे भी बड़े होनेका सब माल-मसाला मौजूद है। आज देशका जवान मन रास्तेकी खोजमें चंचल हो उठा है, उसे रोकनेकी शक्ति किसीमें नहीं है, तुममें भी नहीं। तुम चाहे जितने बड़े होओ, वह तुम्हारी ही तरह बड़ा होकर अपना जन्मसिद्ध अधिकार लेगा ही लेगा।

किन्तु किस संज्ञासे यौवनका निर्देश किया जाय? उसकी क्या परिभाषा की जाय? अतीत जिसके निकट अतीतसे अधिक नहीं है—वह चाहे जितना बड़ा हो—मुग्ध चित्तसे उसीका लालन करके समय बितानेकी फुरसत जिसे नहीं है, जिसकी बहुत बड़ी आशा और विश्वास अनागतकी आड़में कल्पनासे जगमगा रहा है, वही तो यौवन है और यहींपर वृद्धकी हार है। उसकी शक्ति लगभग समाप्त हो चुकी है, उसका भविष्य आशाहीन शुष्क है, सामनेसे अवरुद्ध है, इसीसे बाकी जीवनके थोड़ेसे दिन प्राणपणसे अतीतको पकड़े रहना ही उसकी सान्त्वना है। इस अवलम्बनको वह किसी तरह छोड़ नहीं सकता। उसे

केवल यही डर लगता है कि उससे विच्युत होनेपर उसके खड़े होनेके लिए कहीं जगह नहीं रहेगी। स्थितिशील शान्ति ही उसका एकमात्र आश्रय है; बहुत दिनसे पिंजड़ेमें बद पक्षीकी तरह मुक्ति ही उसके लिए बंधन है; मुक्ति ही उसकी सुनियंत्रित अभ्यास-सिद्ध जीवन धारण-प्रणालीका यथार्थ विघ्न है। यहींपर यौवनके साथ उसका प्रचण्ड विभेद है। देशको, समाजको, जातिको मुक्त करनेकी जिम्मेदारी जब तक इन वृद्धोंके हाथमें रहेगी, तबतक बधनकी गाँठमें फंदेपर फदा पड़ता ही रहेगा, वह खुलेगी नहीं। किन्तु यौवनका धर्म इससे उल्टा है। इसी लिए जिस दिन मैंने यह सुन पाया कि स्कूल-कालेजोंके छात्रोंने अब राजनीतिको,—जो राजनीति कोरा पालिटिक्स नहीं है, जो राजनीति स्वदेशकी मुक्तिके यज्ञमें दीक्षा या व्रतकी तरह है—ग्रहण करनेके लिए कमर कस ली है, उन्होंने इस कुसस्कारके हाथसे छुटकारा पा लिया है कि यह वस्तु उनके छात्रजीवनके खिलाफ है, उसी दिनसे मेरे मनमें विश्वास उत्पन्न हो गया है कि सचमुच हमें दुर्गतिसे छुटकारा मिल जायगा। छात्रों और देशके युवकोंसे मेरी यह हार्दिक प्रार्थना है कि वे किसीके भी कहनेसे, किसी भी प्रलोभनसे अपने इस संकल्पसे विचलित न हों।

इस सबधमें बहुत-से मनीषी व्यक्तियोंने बहुत-से उपदेश दिये हैं। तुम लोग यह करो, यह करो, यह करो, यह तुम्हें करना चाहिए, यही आचरण प्रशस्त है, स्वार्थत्याग चाहिए, हृदयके भीतर स्वदेश-प्रीतिकी आग सुलगा देनेकी जरूरत है, जाति पाँतिका भेद न स्वीकार करो, छुआछूतका रास्ता छोड़ो, खद्दर पहनो—इसी तरहके अनेक मूल्यवान् आदेश और उपदेश। यह हुआ प्रोग्राम (कार्यक्रम)। इसके सिवा अन्य प्रकारके उपदेश और प्रोग्राम भी हैं। आप लोगोंकी ही तरह देशके बहुत-से छात्र और युवक मेरे पास आकर पूछते हैं कि हम क्या करें, आप बता दीजिए। उत्तरमें मैं कहता हूँ कि प्रोग्राम तो मैं दे नहीं सकता; मैं तुमसे केवल यह कह सकता हूँ कि तुम दृढ पणसे सत्याश्रयी बनो, सत्यका सहारा लो। वे प्रश्न करते हैं—इस मामलेमें सत्य क्या है? भिन्नभिन्न मतामत और प्रोग्राम हमें उद्भ्रान्त कर देते हैं—चक्करमें डाल देते हैं। जवाबमें मैं कहता हूँ कि सत्यकी कोई शाश्वत संज्ञा मेरी जानी हुई नहीं है। देश, काल और पात्रके संबंध या रिलेशन

(relation) से ही सत्यकी जाँच होती है। देश, काल, पात्रके परस्परके सम्बन्धका ज्ञान ही सत्यका स्वरूप है। एकके बदलनेके साथ ही दूसरेका परिवर्तन अवश्य होगा। इस परिवर्तनको बुद्धिसे मान लेना ही सत्यको जानना है। जैसे बहुत पहलेके युगमें राजा ही भगवान्‌का प्रतिनिधि था। देशके लोगोंने यह बात मान ली थी। इसे मैं असत्य नहीं कहना चाहता। उस प्राचीन युगमें शायद यही सत्य था। किन्तु आज ज्ञान और पारिपार्श्विक स्थितिके बदलनेके फलस्वरूप यह बात अगर भ्रान्त धारणा ही प्रमाणित हो, तो भी किसी पुराने जमानेकी युक्ति और उक्तिको ही पकड़े रहकर, उसीको सत्य कहकर, अगर कोई बहस करे तो उसे और चाहे जो कहूँ, सत्याश्रयी नहीं कहूँगा। किन्तु केवल मानना ही सब कुछ नहीं है, अगर चिन्तनमें, वाक्यमें, व्यवहारमें, जीवन-यात्रामें पग-पगपर यह सत्य विकसित न हो उठे, तो वास्तवमें एक और दिशासे इसकी कोई सार्थकता ही नहीं है। बल्कि गलत जानना और भ्रान्त धारणा हो, वह भी अच्छा; किन्तु भीतरके जानने और बाहरके आचरणमें अगर सामजस्य न रहे, अर्थात् जानें कुछ, कहें कुछ, और करें कुछ, तो जीवनकी इतनी बड़ी व्यर्थता, इतना बड़ा कायरपन और नहीं है। यौवन-धर्मको इतना छोटा करनेवाली और कोई दूसरी बात नहीं है। छुआछूत, जातिभेद, खद्दर पहनना, जातीय शिक्षा, देशका काम, यह सब सत्य है या असत्य, अच्छा है या बुरा, मैं यह आलोचना नहीं करूँगा, इसे समझनेके लिए मुझसे बढ़कर योग्यतर व्यक्ति आप लोगोंको बहुत मिलेंगे। किन्तु मैं केवल यही निवेदन करूँगा कि आपके समझनेके साथ आपके कार्योंका ऐक्य रहे। समझता हूँ कि छुआछूत-आचार-विचारका कोई अर्थ नहीं है, तो भी उसे मानकर चलता हूँ। समझता हूँ कि जातिभेद महा अकल्याण करनेवाला है, तो भी अपने आचरणमें यह प्रकट नहीं करता। समझता हूँ और कहता हूँ कि विधवा-विवाह उचित है, तो भी अपने जीवनमें उसे बचाता हूँ। जानता हूँ, खद्दर पहना उचित है तो भी विलायती कपड़े पहनता हूँ। इसीको असत्य आचरण कहते हैं। देशकी दुर्दशा और दुर्गतिके मूलमें यह महापाप हम लोगोंको कितना नीचे खींच लाया है, इसकी शायद हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसा ही हाल सब ओर है। उदाहरण देकर समय बितानेकी जरूरत नहीं है। मैं

प्रार्थना करता हूँ कि देशके युवक दीनता और कायरपनके इस मार्गसे देशका उद्धार कर सकें। गलत समझकर गलत काम करनेकी अज्ञतासे अपराध हो, वह कहीं अच्छा, किन्तु ठीक समझकर गलत काम करनेसे केवल सत्यसे भ्रष्ट होनेका ही नहीं, असत्य-निष्ठाका भी पाप होता है। उसके प्रायश्चित्तका दिन जब आता है, तब सारे देशकी शक्तिसे भी पूरा नहीं पड़ता। यह बात याद रखनी होगी कि सत्य निष्ठा ही शक्ति है, सत्य-निष्ठा ही सब मगलोंका आधार है और अँगरेजीमें जिसे tenacity of purpose (लक्ष्य या उद्देश्यकी ओर खिंचाव) कहते हैं, वह भी इस सत्यनिष्ठाका ही विकास है। इसी कारण मैं बारबार स्वदेशके जवानोंके निकट यही आवेदन करता हूँ कि सत्यनिष्ठा ही उन लोगोंका व्रत हो। क्योंकि मैं निश्चय जानता हूँ कि इस व्रतको धारण करनेसे ही उनके आगेकी सारी बाधा हट जायगी और यथार्थ कल्याणकी राह खुल जायगी। प्रोग्राम और पथ-प्रदर्शनके लिए उन्हें दुश्चिन्ता न करनी होगी।

आजकी कार्य-तालिकाका एक विषय है लाठी, तलवार और छुरीके खेल। अब तक छात्र-समाज physical culture की ओरसे बिलकुल विमुख हो पड़ा था। जान पड़ता है, अब वह धीरे धीरे जैसे लौटा आ रहा है। इस प्रत्यागमनका मैं सम्पूर्ण अन्तःकरणसे अभिनन्दन करता हूँ। उन्होंने देखा है कि केवल दुर्बल शक्तिहीनकी ही तिल्ली पैरकी ठोकरसे फटती है। शक्तिमान् काबुली पठानोंकी नहीं फटती, फटती है बंगालियोंकी। जान पड़ता है, बार बार इसी धिक्कारका धक्का खाकर ही शारीरिक शक्ति बढ़ानेकी स्पृहा लौट आई है। फिजीकल कलचरसे शक्ति आती है, आत्मरक्षाका कौशल आता है, साहस बढता है; लेकिन तो भी यह बात भूलनेसे काम न चलेगा कि ये सब देहके व्यापार हैं। अतएव यही सब कुछ नहीं हैं। साहसका बढना और निर्भीकताका उपार्जन करना एक चीज नहीं है। एक देहकी है, दूसरी मनकी। देहकी शक्ति और कौशल बढ़नेसे अपेक्षाकृत दुर्बल और कौशल न जाननेवालेको हराया जाता है किन्तु निर्भयताकी साधनासे शक्तिमानको परास्त किया जाता है; संसारमें कोई उसे बाधा नहीं दे सकता; वह अजेय होता है। इसीसे, प्रारंभमें जो बात मैंने एक बार कही है उसीकी पुनरुक्ति करके फिर कहता हूँ कि यह अभय-

आश्रम इसी साधनामें लगा हुआ है। इन लोगोंकी यह कृच्छ्र साधना उसीकी एक सीढ़ी, एक उपाय है। यह उनका पथ है, चरम लक्ष्य नहीं। अभाव, दुःख, क्लेश, परोसियोंकी लांछना, बंधुजनोंका तिरस्कार, प्रबलका उत्पीड़न—कोई भी, कुछ भी इनके मुक्ति-मार्गको बाधाग्रस्त न कर सके, यही इन लोगोंका एकान्त पण है। यही निर्भयताकी साधना और यही सत्यकी निष्ठा तो इनके गन्तव्य पथको निरन्तर प्रकाशित करती जा रही है। खद्दरका प्रचार, जातीय विद्यालयकी स्थापना, अस्पताल खोलना, आर्त्तोंकी सेवा—यह सब भला है या बुरा—निर्भीकता और देशकी स्वाधीनता प्राप्त करनेमें ये सब बातें कामकी हैं या नहीं, ये सब प्रश्न वृथा हैं। मेरा यह विश्वास है कि इनकी सत्य-निष्ठा कल अगर इनकी दृष्टिमें और दूसरा मार्ग सुझा दे, तो इस सब आयोजनको अपने ही हाथसे तोड़ फेकनेमें अभय आश्रमके निवासी या सदस्य घड़ी-भरकी भी देर न करेंगे। मैं कामना करता हूँ कि मेरा यह विश्वास सत्य हो।

मेरी अवस्था अधिक हुई, तो भी यहाँ आकर मैंने बहुत कुछ सीखा। इस अभय-आश्रमका अतिथि होनेका सौभाग्य मुझे अंतिम दिन तक याद रहेगा।

अंतमें इन छात्रों और युवसंघको आशीर्वाद करता हूँ कि इनकी ही तरह सत्य निष्ठा उनके भी जीवनका ध्रुवतारा हो।

आप लोग मेरा सकृतज्ञ हार्दिक नमस्कार ग्रहण करें।*

वर्त्तमान हिन्दू-मुसलमान-समस्या

कोई भी बात बहुत लोगोंके बहुत जोर देकर कहते रहनेपर भी केवल कहनेके जोरसे ही सत्य नहीं हो उठती। अथच, इस सम्मिलित प्रबल कण्ठस्वरकी एक शक्ति होती है और मोह भी कम नहीं होता। वह शब्द चारों ओर गूँजता रहता है और इस भापसे ढके हुए आकाशके नीचे दोनों

* १५ फरवरी १९३९ ई० को मालीकाँदाके अभय आश्रममें पश्चिम-विक्रमपुर युवक और छात्र-सम्मिलनीके अधिवेशनमें दिया गया सभापतिका अभिभाषण।

कानोंके भीतर जो प्रवेश करता है, उसीको सत्य मानकर मनुष्य विश्वास कर लेता है। प्रापेगंडा (प्रचार) जिसे कहते हैं, वह यही चीज है। विगत महायुद्धके दिनोंमें इस असत्यको कि परस्पर एक दूसरेका गला काटते फिरना ही मनुष्यका एकमात्र धर्म और कर्त्तव्य है, दोनों पक्षोंने जो सत्य मान लिया था, सो केवल अनेक लोगोंकी कलम और अनेक वक्ताओंके गलेके मिले हुए चीत्कारका ही फल था। जो दो-एक आदमी प्रतिवाद करने चले थे, असल बात कहनेकी जिन्होंनें चेष्टा की थी, उन्हें बेहद लाछना और निर्यातन सहना पड़ा था।

किन्तु आज वह दिन नहीं है। असीम वेदना और दुःख भोगकर मनुष्यको होश आया है कि उस दिन अनेक लोगोंकी अनेक बातोंमें ही सत्य न था।

कई साल पहले, महात्माजीके अहिंसा असहयोगके युगमें, इस देशमें बहुत-से नेताओंने मिलकर ऊँचे स्वरसे इस बातकी घोषणा की थी कि हिन्दुओं और मुसलमानोंका मिलन होना ही चाहिए। चाहिए केवल इसलिए नहीं कि यह चीज अच्छी है, चाहिए इसलिए कि इसके हुए बिना स्वराजकी या स्वाधीनताकी कल्पना करना भी पागलपन है। उस समय अगर कोई यह पूछता कि क्यों पागलपन है तो नेता लोग क्या जवाब देते, यह तो वे ही जानें, किन्तु लेखोंसे, भाषणोंसे और चीत्कारोंके विस्तारसे यह बात ऐसा बड़ा और स्वतःसिद्ध सत्य हो गई थी कि एक पागल आदमीको छोड़कर और किसीमें इसके प्रति सदेह प्रकट करनेका दुस्साहस नहीं रहा।

उसके बाद इस मिलन-बायस्कोपके लिए रोशनी मुहैया करते-करते ही हिंदुओंके प्राणोंपर बन आई। समय और शक्ति कितनी व्यर्थ गई, इसका तो कुछ हिसाब ही नहीं। इसीके फलस्वरूप महात्माजीका खिलाफत-आन्दोलन शुरू हुआ, इसीके लिए देशबंधुका पैक्ट (समझौता) हुआ। अथच भारतके राष्ट्रनीतिक क्षेत्रमें इतनी बड़ी दो खोखली चीजें भी कम हैं। पैक्टका फिर भी कुछ अर्थ समझमें आता है; कारण, उसका एक उद्देश था, वह चाहे कल्याणकर हो चाहे अकल्याणकर। वह उद्देश्य था समयानुसार एक समझौता करके कौंसिलके भीतर बंगाल-सरकारको हराना। किन्तु खिलाफत आन्दोलन तो हिंदुओंके लिए केवल अर्थहीन ही नहीं;

असत्य भी है। किसी भी मिथ्याका सहारा लेकर जयी नहीं हुआ जा सकता और जिस मिथ्याकी भारी शिलाको गलेमें बाँधकर इतना बड़ा असहयोग-आन्दोलन अन्तको रसातलमें चला गया, वह यही खिलाफतका आन्दोलन था। स्वराज चाहिए, विदेशियोंके शासन-पाशसे छुटकारा चाहिए—भारतवासियोंके इस दावेके खिलाफ अँगरेज शायद एक युक्ति खड़ी कर सकते हैं, किन्तु विश्वके दरबारमें वह नहीं टिकती। पावें चाहे न पावें, इस जन्मसिद्ध अधिकारके लिए लड़नेमें पुण्य है, प्राण जानेपर अन्तमें स्वर्ग मिलता है। जगत्‌में ऐसा कोई नहीं है, जो इसे अस्वीकार कर सके। किन्तु खिलाफत चाहिए—यह कैसी बात है? जिस देशके साथ भारतका कोई सम्बध नहीं, जिस देशके लोगोंके बारेमें हम कुछ भी नहीं जानते कि वे क्या खाते है, क्या पहनते हैं, कैसा उनका चेहरा-मोहरा है, वह देश पहले टर्कीके शासनके अधीन था, अब यद्यपि टर्की हार गया है, तथापि सुल्तानको वह लौटा दिया जाय, क्योंकि भारतके मुसलमान इसके लिए हठ कर रहे हैं—मचल रहे हैं। यह कौन सी सगत प्रार्थना है? असलमें यह भी एक समझौता है। घूँसका मामला है। हम क्योंकि स्वराज चाहते हैं और तुम खिलाफत चाहते हो, अतएव आओ, हम मिलकर खिलाफतके लिए सिर फोड़ें और तुम स्वराजके लिए ताल ठोंककर अभिनय करो। किन्तु इधर ब्रिटिश सरकारने कान नहीं दिया और उधर जिसके लिए खिलाफत थी, उस खलीफाको ही तुर्कोंने देशसे निकाल बाहर कर दिया। अतएव इस तरह खिलाफत-आन्दोलन जब बिल्कुल असार और अर्थहीन हो गया, तब अपने खोखलेपनके कारण यह केवल आप ही नहीं मरा, भारतके स्वराज-आन्दोलनका भी गला घोटता गया। वास्तवमें अब घूँस देकर, प्रलोभन दिखाकर, पीठ ठोंककर क्या स्वदेशकी मुक्तिके सग्राममें लोग भर्ती किये जा सकते हैं, और न करनेसे ही विजय मिलती है? नहीं, ऐसा नहीं होता और किसी दिन होगा, यह भी मैं नहीं मानता।

इस मामलेमें सबसे अधिक परिश्रम स्वयं महात्माजीने किया था। जान पड़ता है, इतनी आशा भी किसीने नहीं की थी, और इतना बड़ा धोखा भी किसीने नहीं खाया। उस जमानेमें बड़े बड़े मुसलमान लीडरोंमेंसे कोई महात्माजीका दाहिना हाथ बना था, कोई बायाँ हाथ, कोई आँख, कोई कान,

कोई और कुछ। हायरे! इतना बड़ा तमाशेका काम भला और भी कहीं हुआ है! अन्तको हिन्दुओं और मुसल्मानोंको मिलानेकी अन्तिम चेष्टा महात्माजीने लम्बा इक्कीस दिनका उपवास करके दिल्लीमें की। वह धर्मप्राण सरलचित्त साधु आदमी हैं। उन्होंने शायद सोचा था कि इतनी यंत्रणा देखकर भी क्या उन लोगोंको दया न आवेगी? उस बार किसी तरह उनके प्राण बच गये। भाईसे अधिक, सबकी अपेक्षा प्रिय मौलाना मुहम्मदअली ही सबसे अधिक विचलित हुए। उनकी आँखोंके सामने ही सब कुछ हुआ था। उन्होंने आँसू गिराकर कहा—आहा! बड़े भले आदमी हैं यह महात्माजी इनका कुछ सच्चा उपकार करना ही चाहिए। अतएव पहले मक्केशरीफ जाऊँ, जाकर पीरको सिन्नी चढाऊँ और वहाँसे लौटकर, कलमा पढ़ाकर, यह काफिर धर्म त्याग करा दूँ, तब छोड़ूँ।

सुनकर महात्माजीने कहा—पृथ्वी तू फट जा।

वास्तवमें मुसलमान अगर कभी कहे कि हिंदूके साथ मेल करना चाहिए तो वह छलनाके सिवा और क्या हो सकता है, यह सोच पाना कठिन है।

एक दिन मुसलमानोंने लूटनेके लिए ही भारतमें प्रवेश किया था। वे यहाँ राज्य स्थापित करनेके लिए नहीं आये थे। उस समय केवल लूट करके ही वे नहीं रुके, उन्होंने देवमंदिर तोड़े, प्रतिमाओंको चूर-चूर किया, स्त्रियोंके सतीत्वको नष्ट किया—दूसरोंके धर्म और मनुष्यत्वके ऊपर जितनी चोट की जा सकती है, उसका जितना अपमान किया जा सकता है, उतना करनेमें उनको तनिक भी सकोच नहीं हुआ।

देशके राजा होकर भी वे इस जघन्य नीच प्रवृत्तिके हाथसे छुटकारा नहीं पा सके। औरगजेब आदि नामी बादशाहोंकी बात छोड़ दीजिए, जिन अकबर बादशाहके उदार होनेकी इतनी शोहरत है, वह भी बाज नहीं आये। आज मनमें आता है कि यह संस्कार उन लोगोंके अस्थिमज्जागत हो गया है। पबनाके * बीभत्स काण्डके बारेमें बहुतोंको यह कहते सुनता हूँ कि पछाँहसे

* पबना पूर्व-बंगालका एक शहर और जिला है। इस शहर और जिलेमें मुसल्मानोंने अपने परोसी हिंदुओं और उनकी बहू-बेटियोंपर घोर अत्याचार किया था। —अनुवादक।

मुसलमान मुल्लाओंने आकर भोले-भाले और अशिक्षित-अपढ मुसलमानोंको भड़काकर यह दुष्कर्म किया और कराया है। किंतु इसी तरह अगर पछाँहसे हिंदू-पुरोहितोंका दल आकर किसी ऐसे स्थानमें जहाँ हिंदुओंकी संख्या बहुत हो, ऐसे ही भोले भाले अपढ किसानोंको यह कहकर भड़कानेकी चेष्टा करे कि निरपराध मुसलमान परोसियोंके घरमें आग लगाना, सम्पत्ति लूटना, औरतोंका अपमान और बेइज्जती करना होगा, तो उन सब निरक्षर हिंदू किसानोंका दल उसको पागल समझकर गाँवसे भगा देनेमें घड़ी-भरकी भी देर न करेगा—नहीं हिचकेगा।

किन्तु ऐसा क्यों होता है? यह क्या केवल अशिक्षित होनेका ही फल है? शिक्षाका अर्थ अगर लिखना-पढना जानना है, तो इस विषयमें हिंदू और मुसलमान किसान-मजदूरोंमें अधिक अन्तर नहीं है। किन्तु शिक्षाका तात्पर्य यदि अन्तःकरणका प्रसार और हृदयका संस्कार हो, तो कहना ही होगा कि इन दोनों सम्प्रदायोंकी तुलना ही नहीं हो सकती। हिन्दू-नारियोंके अपहरणके मामलेमें देखता हूँ, अखबारवाले प्रायः ही प्रश्न करते हैं कि मुसलमान-नेता लोग चुप क्यों हैं? उनके सम्प्रदायके लोग बार-बार इतना बड़ा अपराध करते हैं, तो भी वे किस लिए उसका प्रतिवाद नहीं करते? मुँह बद करके चुप रहनेका मतलब क्या है? किन्तु मुझे तो जान पड़ता है कि इसका अर्थ बिलकुल ही स्पष्ट है। वे केवल अत्यन्त विनय या मुलाहिजेके कारण ही मुँह फोड़कर नहीं कह पाते हैं कि 'भैया, हम आपत्ति क्या करें, समय और सुयोग पानेपर इस काममें हम भी लग जा सकते हैं।'

मिलन बराबरवालोंमें होता है। शिक्षा समान कर लेनेकी आशा और चाहे जो करे, मैं तो नहीं करता। हजार वर्षोंमें पूरा नहीं पड़ा, और और भी हजार वर्ष इसके लिए काफी न होंगे। और अगर इसीकी पूँजी लेकर अँगरे-जोंको यहाँसे भगाना हो तो यह काम अभी रहने दिया जाय। मनुष्यके लिए और भी काम हैं। खिलाफत आन्दोलन करके, पैक्ट करके और दाहिने और बाएँ दोनों हाथोंसे मुसलमानोंकी दुम सहलाकर स्वराजकी लड़ाई लड़ी जा सकेगी, यह दुराशा दो-एक आदमियोंके मनमें भले ही हो, किन्तु अधिकांश लोगोंके मनमें नहीं थी। वे यही सोचते थे कि दुःख और दुर्दशाके समान शिक्षा देनेवाला तो दूसरा कोई नहीं है। विदेशी ब्यूरोक्रेसी (नौकरशाही) के

निकट निरन्तर लाछना भोग करके शायद उन लोगों (मुसलमानों) को चैतन्य होगा, शायद हिंदुओंसे कंधा मिलाकर स्वराजके रथको ठेलनेके लिए राजी हो जायँगे। ऐसा सोचना अन्याय नहीं है, पर उन्होंने केवल यही नहीं सोचा कि लाछनाको समझनेके लिए भी शिक्षाका होना जरूरी है। जिस लाछनाकी आगमें स्वर्गीय देशबन्धुका हृदय जलने लगता था, उससे मेरे शरीरमें आँच भी नहीं लगती। और उससे भी बड़ी बात यह है कि दुर्बलके प्रति अत्याचार करनेमें जिन्हें सकोच नहीं होता, सबलके तलवे चाटनेमें भी उन्हें ठीक उतना ही सकोच नहीं होता। अतएव इस आकाश-कुसुमके लोभसे हम अपनेको काहेके लिए धोखा दें ? हिन्दू-मुसलमान-मिलन एक बड़ा-सा शब्द है जिससे गाल भर जाते हैं। युग युगमें ऐसे गाल भरनेवाले अनेक वाक्योंका आविष्कार हुआ है, किन्तु इस गाल भरनेके सिवा वे और किसी काम नहीं आये। यह मोह हम लोगोंको त्याग करना ही होगा। आज बंगालके मुसलमानोंको यह बात कहकर लज्जित करनेकी चेष्टा वृथा है कि सात पीढ़ी पहले तुम हिन्दू थे, अतएव रक्तके सम्बन्धसे तुम हमारे जाति-भाई हो। जाति-वध महापाप है, अतएव कुछ करुणा करो—रहम खाओ। इस तरह कहकर दयाकी भीख माँगने और मेलका प्रयास करने जैसी अगौरवकी बात मैं तो और नहीं देख पाता। स्वदेशमें, विदेशमें, मेरे अनेक ईसाई बन्धु हैं। किसीके बाप-दादोंने और किसीने स्वय धर्म-परिवर्तन किया है, किन्तु यदि वे खुद अपने परिवर्त्तित धर्म-विश्वासका परिचय न दें, तो आज भी उनकी किसी बात या रहन सहनसे यह नहीं प्रकट होता कि वे हमारे भाई-बहन नहीं हैं। मैं एक महिलाको जानता हूँ जो थोड़ी ही आयुमें इस लोकसे बिदा हो गई हैं। इतनी बड़ी श्रद्धाकी पात्री भी मैंने अपने जीवनमें कम ही देखी हैं। और मुसलमान ? हमारे यहाँ एक रसोइया ब्राह्मण था। एक मुसलमानीके प्रेममें पडकर वह मुसलमान हो गया। एक वर्ष बाद मुझे वह देख पड़ा। उसने नाम बदल लिया है, पोशाक बदल दी है; उसकी प्रकृति बदल गई है, भगवानकी दी हुई सूरत भी ऐसी बदल गई है कि वह पहचान नहीं पड़ता। और केवल यही एकमात्र उदाहरण नहीं है। निम्नश्रेणीकी बस्तीके साथ जिसकी थोड़ी-बहुत घनिष्ठता है—जहाँ यह काम बराबर हुआ करता है—

उससे छिपा नहीं है कि बात ऐसी ही है। उग्रता तकमें ये लोग जान पड़ता है कोहाटके मुसलमानोंको भी लज्जित कर सकते हैं।

अतएव, हिन्दुओंकी समस्या यह नहीं है कि किस तरह यह अस्वाभाविक मिलन संघटित होगा, हिंदुओंकी समस्या यह है कि किस तरह वे संघबद्ध हो सकेंगे और हिन्दूधर्मावलम्बी किसी भी व्यक्तिको छोटी जाति कहकर उसका अपमान करनेकी उनकी दुर्बुद्धि किस तरह और कब जायगी। और सबसे बड़ी समस्या यह है कि हिंदूके अंतःकरणका सत्य किस तरह उसके प्रतिदिनके प्रकाश्य आचरणमें फूलकी तरह विकसित हो उठनेका सुयोग पावेगा। जो सोचता हूँ, वह कहता नहीं, जो कहता हूँ, वह करता नहीं, जो करता हूँ, उसे स्वीकार नहीं करता,—आत्माकी इतनी बड़ी दुर्गति बरकरार रहते हुए समाज-देहके असंख्य छिद्र-पथ स्वयं भगवान् आकर भी बंद नहीं कर सकेंगे।

यही समस्या और यही कर्तव्य है। हिंदू-मुसलमानका मेल नहीं हुआ, इसके लिए छाती पीटकर रोते झीखते फिरनेकी जरूरत नहीं। आप अपना रोना बंद करेंगे तभी अन्य पक्षसे रोनेवाले आदमी पाये जायँगे।

हिन्दुस्तान हिंदुओंका देश है। अतएव इस देशको अधीनताकी शृंखलासे छुड़ानेकी जिम्मेदारी अकेले हिंदुओंकी है। मुसलमान अपना मुँह अरब और टर्कीकी ओर फेरे हुए हैं—इस देशमें उनका मन नहीं है। जो नहीं है, उसके लिए दुःख अथवा क्षोभसे क्या लाभ है और उनके विमुख कानोंके पीछे पीछे भारतके जल-वायु और थोड़ी-सी मिट्टीकी दोहाई देनेसे ही क्या होगा! आज यही बात अच्छी तरह समझनेकी जरूरत है कि यह काम केवल हिन्दुओंका है, और किसीका नहीं। मुसलमानोंकी संख्या गिनकर घबरानेकी भी आवश्यकता नहीं। संख्या ही संसारमें परम सत्य नहीं है। इससे भी बड़ा सत्य मौजूद है, जो एक दो तीन करके सिर गिननेके हिसाबको हिसाबमें ही नहीं लाता।

हिन्दू-मुसलमानोंके संबंधमें अबतक जो मैंने कहा है, वह शायद कुछ कड़वा लगेगा, किन्तु इसके लिए चौंकनेकी जरूरत नहीं है, मुझे देशद्रोही समझनेका भी कोई कारण नहीं। मेरे कहनेका मतलब यह नहीं है कि इन दोनों पड़ोसी जातियोंके बीच यदि एक सद्भाव और प्रीतिका बन्धन होगा, तो वह चीज मुझे पसंद न होगी। मेरा वक्तव्य यही है कि यह चीज अगर नहीं ही हो

और होनेके कोई लक्षण अगर फिलहाल न देख पड़ें, तो इसके लिए दिन-दिन आर्त्तनाद करनेसे कोई सुविधा नहीं होगी। और इस मनोभावकी भी कोई सार्थकता नहीं है कि न होनेसे ही बड़ा भारी सर्वनाश हो गया। अथ च, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाएँ, चारों ओरसे एक बात बारबार सुनकर उसे हम ऐसा ही सत्य मानकर विश्वास कर बैठे हैं कि जगत्‌में इसके अलावा हमारी और कोई गति या उपाय है यह सोच ही नहीं सकते। इसीसे करते क्या हैं? यही कि अत्याचार और अनाचारके विवरण सब स्थानोंसे संग्रह करके कहते फिरते हैं कि यह तुमने हमें मारा, हमारे देवताओंके हाथ-पैर तोड़ डाले, यह हमारा मंदिर तोड़-फोड़ डाला, यह हमारी महिलाका अपहरण किया–और, यह सब तुम्हारा बड़ा अन्याय है, और इससे हम अत्यंत व्यथित होकर हाहाकार करते हैं। यह सब तुम न बंद करोगे तो हम टिक नहीं सकते। वास्तवमें इससे अधिक हम क्या कहते हैं और क्या करते हैं? हमने निःसंशय होकर यह ठीक कर लिया है कि चाहे जिस तरह हो, मिलन करनेका भार हम लोगोंपर और अत्याचार निवारण करनेका भार उन लोगोंपर है। किन्तु वास्तवमें होना चाहिए ठीक इससे उल्टा। अत्याचार निवारण करनेका भार हमें खुद लेना चाहिए, और हिन्दू-मुसलिम एकता नामकी अगर कोई चीज हो तो उसे पूरा करनेका भार मुसलमानोंके ऊपर छोड़ देना चाहिए।

तो फिर देश कैसे मुक्त होगा? किन्तु मैं पूछता हूँ, मुक्ति क्या इस तरह होती है? छुटकारा पानेके व्रतमें हिन्दू जब अपनेको प्रस्तुत कर सकेंगे, तब इसपर ध्यान देनेकी भी जरूरत न होगी कि मुट्ठीभर मुसलमान इसमें शामिल हुए या नहीं। भारतकी स्वतंत्रतासे मुसलमानोंको भी स्वतंत्रता मिल सकती है, इस सत्यपर वे किसी दिन निष्कपट भावसे विश्वास नहीं कर सकेंगे। कर सकेंगे केवल तभी, जब उनका अपने धर्मके प्रति मोह कम होगा; जब वे समझेंगे कि कोई भी धर्म हो, उसके कट्टरपनको लेकर गर्व करनेके बराबर मनुष्यके लिए ऐसी लज्जाकी बात, इतनी बड़ी बर्बरता और दूसरी नहीं है। किन्तु उनके यह समझनेमें अभी बहुत देर है। और, दुनिया भरके लोग मिलकर मुसलमानोंकी शिक्षाकी व्यवस्था न करें तो इनकी आँखें किसी दिन खुलेंगी या नहीं, इसमें सन्देह है। और क्या देशकी स्वतन्त्रताके संग्राममें देशभरके सभी

लोग कमर बाँधकर लग जाते हैं ? क्या यह संभव है या इसका प्रयोजन होता है ? अमेरिकाने जब स्वाधीनताके लिए युद्ध छेड़ा था, तब उस देशके आधेसे अधिक लोग अँगरेजोंके ही पक्षपाती थे । आयर्लैण्डके मुक्ति-यज्ञमें वहाँके कै जने शामिल हुए थे ? जो बोल्शेविक (साम्यवादी या कम्यूनिस्ट) सरकार आज रूसका शासन चला रही है, उस देशकी जन सख्याके अनुपातमें वह तो एक प्रतिशत भी नहीं पड़ती । मनुष्य तो गऊ या घोड़ा नहीं है । केवल मात्र भीड़का परिमाण देखकर ही सत्य-असत्यका निर्द्धारण नहीं होता, होता है केवल उनकी तपस्याका, उनकी लगनका विचार करके । इस एकाग्र तपस्याका भार देशके युवकोंके ऊपर है । हिन्दू मुसलिम एकताकी चाल या कौशल सोचना भी उनका काम नहीं है, और जो सब प्रधान राजनीतिविशारद दल इसी युक्ति या कूट-कौशलको भारतकी मुक्तिका एकमात्र अद्वितीय उपाय कहकर चिल्लाते फिरते हैं, उनके पीछे जय-ध्वनि करनेमें समय नष्ट करके घूमना भी उनका काम नहीं है । ससारमें बहुत सी ऐसी चीजें हैं, जिन्हें छोड़नेपर ही उनको पाया जाता है । हिन्दू-मुसलिम एकता भी इसी तरहकी चीज है । जान पड़ता है, इसकी आशा बिल्कुल छोड़कर काममें लग जा सकनेपर ही शायद एक दिन इस अत्यन्त दुष्प्राप्य निधिके दर्शन मिलेंगे । कारण, तब मिलन केवल एककी चेष्टासे ही नहीं होगा, वह होगा दोनोंकी हार्दिक और सम्पूर्ण इच्छाका फल ।

साम्प्रदायिक बँटवारा (१)

बगालकी हिन्दू जनताका यह सम्मेलन जिन्होंने आयोजित किया है, उनमें एक मैं भी हूँ । यह विराट् सभा केवल इसी नगरके नागरिकोंकी नहीं है । आज जो लोग एकत्र हुए हैं, वे बगालके विभिन्न जिलोंके रहनेवाले हैं । सबका वर्ण शायद एक नहीं है, किन्तु भाषा एक है, साहित्य एक है, धर्म एक है, जीवन-यात्राके मूलकी बात एक है । जो विश्वास और निष्ठा हमारे इहलोक परलोकका नियत्रण करती है, उसमें भी हम कोई किसीके गैर

बंगला सन् १३३६, १९ आश्विनके 'हिन्दू-सघ' में प्रकाशित लेख ।

नहीं हैं। गैर बना देनेके अनेक उपाय अनेक प्रकारके कौशल रहते भी मैं कहूँगा कि हम सब आज भी एक हैं। जो बंधन युगोंसे हम लोगोंको एक बनाये हुए है, आज भी वह नहीं टूटा, यह बिल्कुल सत्य है।

बंगालकी उसी समग्र हिन्दू जातिकी ओरसे और जो लोग इस सभाका आयोजन करनेवाले हैं उनकी ओरसे, मैंने विनयपूर्वक सम्मानके साथ रवीन्द्रनाथको इस विराट् सभाका नेतृत्व ग्रहण करनेके लिए निमंत्रित किया है।

सभापतिका परिचय देनेकी एक प्रथा है; किन्तु रवीन्द्रनाथके इस विराट् नामके आगे या पीछे कौन-सा विशेषण जोड़ा जाय? विश्व-कवि, कवि-सार्वभौम इत्यादि बहुत कुछ लोगोंने पहले ही जोड़ रक्खा है। किन्तु हम लोग—जो उनके शिष्य-सेवक हैं—अपने बीच खाली 'कवि' कहकर ही उनका उल्लेख करते हैं। बाहर कहते हैं रवीन्द्रनाथ। मै जानता हूँ, सभ्य जगत्के एक सिरेसे दूसरे सिरे तक इस व्यक्तिको समझनेमें किसीको भी कोई असुविधा नहीं होगी। इस समय कविका मन थका हुआ है, देह दुर्बल और अवसन्न है। इस भारी भीड़के बीच उनको बुलाकर लाना विपज्जनक है। तो भी हमने उनसे अनुरोध किया था। मन ही मन इच्छा थी कि दुनियामें किसीको भी अज्ञात न रहे कि इस सभाके नेतृत्वका भार किसने वहन किया। कविने स्वीकार किया, बोले—अच्छा। तो उनका वक्तव्य उनके मुँहसे ही व्यक्त हो।

हम उन्हें अपने कृतज्ञ चित्तका नमस्कार निवेदन करते हैं।

भारत-राज्य-शासनकी नई मशीन विलायतके मंत्रियोंने बहुत दिनोंमें बड़े जतनसे तैयार की है। जहाजपर लाद दी गई है—बस आती ही होगी। हममेंसे कोई ठीक तौरसे नहीं जानता कि उसमें कितने छोटे-बड़े चक्के हैं, कितने डंडे हैं, कितने कल कब्जे हैं, कौन किधर घूमता है—किधर फिरता है, किस ओर आगे बढ़ता है। और यह धारणा भी किसीको नहीं है कि उसका मूल्य आखिर तक क्या देना होगा। मशीन बनते समय बीच-बीचमें सिर्फ यह खबर पाई गई थी कि इस देशसे उस देशमें बहुतसे बुद्धिमान् लोग बुद्धि देनेके लिए रवाना किये गये हैं। उन्होंने क्या बुद्धि दी, वह सूक्ष्म तत्त्व हम साधारण मनुष्य नहीं समझते; केवल इतना ही समझमें आया है कि एक पक्षने बड़े ऊँचे स्वरमें बहुत चीख-पुकार मचाई थी कि यह नई मशीन उन्हें

नहीं चाहिए, और दूसरे पक्षने धमकाकर कहा था कि जरूर चाहिए,— चिल्लाओ नहीं। अतएव अन्तको यह स्वीकार करना ही पड़ा कि चाहिए। बहुतोंकी धारणा है कि वह मशीन ऊख पेरनेकी बहुत बड़ी कल जैसी है। उसके एक ओर छिलके और फोक जमा होता है और दूसरी ओर रस। वह रस पात्रमें जमा होकर किस दिशामें भेजा जायगा—यह प्रश्न केवल फिजूल ही नहीं, शायद अवैध भी है। भय है, तो भी प्रश्न किया जा सकता है कि राष्ट्रकी व्यवस्थामें धर्म-विश्वास ही क्या सबसे बड़ा हो गया और मनुष्य छोटा हो गया? जो व्यवस्था जगत्में कहीं नहीं है, जिससे कहीं कल्याण नहीं हुआ, वही क्या इस अभागे देशमें Special and peculiar circumstances (विशेष और विलक्षण अवस्था या स्थिति) मान ली गई? और नाबालिगोंके ट्रस्टियोंके सिवा उसे और कोई नहीं समझता?

किन्तु यह तो हुआ पालिटिक्स या राजनीति। इसकी आलोचना करनेका भार मेरे ऊपर नहीं है। इस विषयका हाल जो जानते हैं, वे अभिज्ञ लोग ही इस तत्त्वको समझा देनेके योग्य पात्र हैं, मैं नहीं।

तो भी अन्तमें एक बात कहे रखता हूँ। किसी किसीकी धारणा है कि हमने सुविचारकी आशासे विलायतको memorandam (स्मृतिपत्र) भेजा है। पर यह विश्वास हममेंसे किसीको नहीं है, हमने असलमें अन्यायका प्रतिवाद भेजा है। यह नई शासन-व्यवस्था आदिसे अन्त तक बुरी है। उस अपरिसीम बुराईके भीतर बंगालके हिंदुओंकी ही सबसे अधिक क्षति हुई है। आईनकी कील ठोककर उनको हमेशाके लिए छोटा किया गया है। तथापि यह बात सत्य है कि देशके मुसलमान भाइयोंने दस पन्द्रह जगहें अधिक पाई हैं, इसलिए मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि अन्याय और अविचार एक आदमीके साथ भी होता है तो उससे अकल्याण ही होता है। उससे अन्त तक न मुसलमानोंका, न हिन्दुओंका और न जन्मभूमिका— किसीका भी मंगल न होगा। *

---

* १५ जुलाई सन् १९३६ ई० को कलकत्तेके टाउनहालमें हुई साम्प्रदायिक बँटवारेकी प्रतिवाद-सभाके आरंभ करनेके समय दी गई वक्तृता। ('वातायन' की १ श्रावण, १३४३ बंगला सन्की संख्यामें प्रकाशित)

साम्प्रदायिक बँटवारा (२)

नवीन शासन-तन्त्रमें समग्र भारतके हिन्दुओंके – खासकर बंगदेशके हिन्दुओंके—प्रति जितना अविचार किया गया है, उतना बड़ा अविचार और नहीं हो सकता। बहुत लोग शायद समझेंगे कि इस अविचारका प्रतिकार करनेकी क्षमता हमारे हाथमें नहीं है. और यह सोचकर ही वे निश्चेष्ट रहेंगे, प्रतिवाद नहीं करेंगे। किन्तु यह सत्य नहीं है। अगर इस अन्यायको रोकनेकी क्षमता किसीमें है तो वह हममें ही है।

इस आशासे कि देशका साहित्य शायद इससे बड़ा हो, मैं जन्मसे साहित्यकी सेवा करता आया हूँ, और इसी आशासे मैंने साहित्यके काममें, देशके काममें अपनेको सम्पूर्ण रूपसे लगा दिया है। किन्तु अब अवस्था ऐसी होने जा रही है कि मुझे डर हो रहा है कि शायद दस वर्षके भीतर ही साहित्यका एक और युग आ जायगा—शायद उस दिन रवीन्द्रनाथ नहीं रहेंगे, शायद मैं भी अब उतने दिनतक जीवित नहीं रहूँगा। इसीलिए अभीसे उस अवस्थाकी बात सोचकर मैं शंकित हो उठा हूँ।

बंगला साहित्यको विकृत करनेकी एक हीन प्रचेष्टा चल रही है। कोई कहता है कि भाषामें सख्याके अनुपातसे इतने अरबी-शब्दोंका व्यवहार करो, कोई कहता है कि इतने फारसी-शब्दोंका व्यवहार करो, और कोई कहता है कि इतने उर्दू शब्दोंका व्यवहार करो। यह एकदम अकारण है,—जैसे छोटा बच्चा हाथमें छुरी पा जाता है और घरकी सब चीजोंको काटता फिरता है, यह भी ठीक उसी तरह है।

इसके बाद इतना बड़ा अविचार जो हम लोगोंके—हिंदुओंके—ऊपर हुआ, उसे जानकर भी वे चुप हो रहे, यही सबसे बढ़कर दुःखकी बात है। यह क्या वे नहीं समझते कि यह जो विष, यह जो क्षोभ हिंदुओंके मनमें जमा हो रहा है, वह एक न एक दिन रूप पावेगा ही। उसकी एक प्रतिक्रिया है, यह भी क्या वे नहीं सोचते ? इस तरहसे तो कोई देश चल नहीं सकता, कोई जाति जीवित नहीं रह सकती। यह भी तो उनकी जन्मभूमि है। देखिए, केवल देनेसे ही नहीं होता,—ग्रहण करनेकी शक्ति भी तो एक शक्ति है। आज

अगर वे यह सोचें कि ब्रिटिश गवर्नमेंटके ढाल देनेसे ही उनका पाना हो गया, तो एक दिन उन्हें पता चलेगा कि इतनी बड़ी भूल और नहीं है।

मैं अपने मुसलमान भाइयोंसे कहता हूँ कि तुम सस्कृतिके ऊपर नजर रक्खो, साहित्यके ऊपर नजर रक्खो, और छोटे बच्चेकी तरह धारदार छुरी हाथमें पा गये हो तो सब कुछ काटते मत फिरो।

मेरी रायमें अन्यायको स्वीकार न करना चाहिए, भरसक उसका प्रतिकार करना चाहिए। यह जो अन्याय हम लोगोंके ऊपर हुआ है, उसका प्रतिकार करना ही होगा। अगर हम न कर सके तो दस वर्ष बाद—बगाली आज जिसका गौरव करते हैं—इसका कुछ भी बाकी न रहेगा। इसीसे अपनी क्षुद्र शक्तिसे जितना हो सकेगा, उतना इस अन्यायका प्रतिवाद मैं करूँगा। कारण, यह अन्याय अगर चलने दिया गया तो देशमें न हिंदुओंका, न मुसलमानोंका, किसीका भी कभी मगल न होगा। *

युव-संघ

कल्याणीय 'वेणु' (पत्रिका) के किशोर और किशोरी पाठकगण, उत्तर-बंगके रगपुर शहरसे तुम लोगोंको यह पत्र लिख रहा हूँ। जान पड़ता है, तुम लोग जानते हो, बगालमें 'युव-समिति' के नामसे एक सघकी स्थापना हुई है। शायद अबतक तुम लोग इसके सदस्य नहीं बने हो; किन्तु एक दिन यह समिति तुम्ही लोगोंके हाथमें आ पड़ेगी। इसीसे इसके सबधमें दो-चार बातें तुम्हें बता रखना चाहता हूँ। समितिका वार्षिक सम्मेलन कल समाप्त हो गया है। मैं बूढा आदमी हूँ, तो भी लड़के-लड़कियाँ मुझे ही इस सम्मेलनका नेतृत्व करनेके लिए बुला लाये। उन्होंने मेरी अवस्थाका खयाल नहीं किया। जान पड़ता है, इसका कारण यह है कि न जाने किस तरह

---

* अलबर्ट हालमें साम्प्रदायिक निर्द्धारणके प्रतिवादके लिए बुलाई गई सभाके सभापतिका भाषण। (वातायन पत्रके बगला सन् १३४३ की १५ श्रावणकी सख्यामें प्रकाशित।)

उन्होंने समझ लिया है कि मैं उनको पहचानता हूँ। उनकी आशा और अकांक्षाकी बातोंसे मैं परिचित हूँ। मैं उन लोगोंकि निमन्त्रणको स्वीकार करके आनन्दके साथ केवल यही बात उन्हें बतानेके लिए दौड़ा आया था कि देशकी सब भलाई-बुराई उन्हींके हाथमें निर्भर है, इस सत्यको वे सम्पूर्ण हृदयसे अनुभव करें—समझें। अथ च उनके इस परम सत्यको समझनेकी राहमें न जाने कितनी बधाएँ खड़ी हैं, उनकी नजरमें यह सत्य न पड़ने देनेके लिए न जाने कितने आवरण तैयार हुए हैं। और तुम लोगोंके लिए तो जिनकी अवस्था और भी छोटी है, बाधायें अनन्त हैं। बाधा जो लोग देते हैं, वे कहते हैं कि सभी सत्य जाननेका सभीको अधिकार नहीं है। यह युक्ति ऐसी जटिल है कि 'ना' कहकर सम्पूर्ण रूपसे इसे उड़ा भी नहीं दिया जा सकता और 'हाँ' कहकर भी सम्पूर्ण मान लिया नहीं जा सकता। और यहींपर उनका जोर है। किन्तु इस तरहसे इस बातका निर्णय नहीं होता। हुआ भी नहीं। सब देशोंमे, सभी समयोंमें, प्रश्नके ऊपर प्रश्न उठे हैं, अधिकार-भेदका तर्क उठा है, अन्तमें वयस छोड़कर मनुष्यकी छोटी-बड़ी, ऊँच-नीच अवस्थाकी दोहाई देकर मनुष्यने मनुष्यको ज्ञानके दावेसे या अधिकारसे भी वंचित कर रक्खा है।

तुम लोग भी इसी तरह जन्मभूमिके सबधमें अनेक तथ्यों, अनेक ज्ञानोंसे वचित हो रहे हो। इस आशंकासे कि सच्ची खबर पानेसे तुम लोगोंका मन न भटके, कहीं तुम्हारी स्कूल-कालेजकी पढाईमें, कहीं तुम्हारी परीक्षा पास करनेकी परम वस्तुमें धक्का न लगे, मिथ्यासे भी तुम्हारी दृष्टि अवरुद्ध की गई है, यह खबर शायद तुम लोग जान भी न सकते।

युव-समितिके सम्मेलनमें यही बात मैंने सबसे अधिक कहनी चाही थी। कहना चाहा था कि तुम्हारे पराधीन देशको विदेशी शासनसे मुक्त करनेके अभिप्रायसे तुम लोगोंके इस संघका गठन हुआ है। स्कूल कालेजके छात्रोंको पढनेकी अवस्थामें भी देशके काममें योग देनेका—देशकी स्वाधीनता-पराधीनताके बारेमें सोचने-विचारनेका अधिकार है और इस अधिकारकी बातको भी मुक्तकण्ठसे घोषित करनेका अधिकार है।

अवस्था देशकी पुकार सुननेसे कभी किसीको रोक नहीं रख सकती—तुम्हारे जैसे किशोर अवस्थावालोंको भी नहीं।

परीक्षा पास करनेकी आवश्यकता है—किन्तु यह उससे भी अधिक आवश्यक है। बाल्यावस्थामें इस सत्य चिन्तासे अपनेको अलग रखनेसे जिस टूटनेकी सृष्टि होती है, एक दिन अवस्था बढने पर भी वह जुड़ना नहीं चाहता। इस अवस्थाका सीखना सबसे बड़ी शिक्षा है। वह एकदम रक्तमें घुल-मिल जाती है।

मैं खुद भी तो देखता हूँ कि एक दिन माताकी गोदमें बैठकर जो सीखा था, वह इस बुढ़ापेमें भी वैसा ही बना है, भूला नहीं। उस शिक्षाका फिर क्षय नहीं होता।

तुम लोग अपनी वेलामें भी ठीक यही जानो। यह न सोचो कि आज अवहेलासे जिधर तुमने नहीं देखा, उसे और एकदिन बड़े होकर इच्छा करते ही देख पाओगे। शायद देख न पाओगे, शायद हजार चेष्टा करनेपर भी वह दुर्लभ वस्तु सदाके लिए आँखोंकी ओटमें रह जायगी। जो शिक्षा परम श्रेय है, इस किशोर अवस्थामें ही उसे शिराओंके रक्तके भीतर प्रवाहित करके ग्रहण करना होता है, तभी उसे यथार्थ करके पाया जाता है। कलकी इस युवक-समितिके युवकोंने कांग्रेसके रगढग बाल्यकालमें ही ग्रहण कर लिये थे, इसीलिए उस रीति-नीतिको फिर वे छोड़ नहीं सके। यह भयकी बात है।*

रगपुर, १७ चैत्र।]

वर्त्तमान राजनीतिक प्रसंग

कुछ दिनसे ऐसी एक चीख-पुकार सुन रहा हूँ कि कांग्रेसने भूल की है। किन्तु इस कोलाहलके बीच सत्यका अंश कितना है, इसका विचार नहीं हुआ।

मैं स्वय कभी एकाएक किसी विषयमें कोई धारणा नहीं बना लेता। जो लोग जोर गलेसे प्रचार करते हैं कि उनका दावा ही प्रबल है, उनकी बात भी

* 'वेणु' पत्रिकाकी तृतीय वर्षकी प्रथम संख्यामें (बगला सन् १३३६, वैशाख) प्रकाशित।

मैं सहजमें स्वीकार नहीं करता। इसीसे कांग्रेसके विरुद्ध इस युक्तिहीन निन्दाके प्रचारको मान लेना मेरे लिए कठिन है।

जो लोग इस नये आन्दोलनके अगुआ हैं, उनपर एकनिष्ठ प्रवीण कर्मीके हिसाबसे मैं श्रद्धा रखता हूँ; देशकी राजनीतिक साधनाके इतिहासमें उनकी देन भी मैं कम नहीं मानता। किन्तु देशके लिए दुःखका बोध उनमें कांग्रेसकी अपेक्षा भी अधिक है, इस बातको प्रमाणित करनेके लिए मेरी समझमें कोई नया दल खड़ा करनेका प्रयोजन न था। कांग्रेस देशकी सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था है, कांग्रेस साम्प्रदायिक भेदभावके विरुद्ध चिरकालसे लड़ती आई है। आज उसे छोटा प्रमाणित करनेकी चेष्टासे किसीका व्यक्तिगत गौरव कुछ बढ़ा है या नहीं, यह मैं नहीं जानता; किन्तु देशका गौरव तनिक भी नहीं बढा।

देशसेवा जबतक धर्मका रूप नहीं ले लेती, तबतक उसके भीतर थोड़ी-सी धोखा-धड़ी रह जाती है। यह बात मैं प्रतिदिन मर्म-मर्ममें अनुभव करता हूँ और धर्म जब देशसे भी ऊँचा हो जाता है, तब भी विपत्ति घटित होती है। महात्माजी जानते हैं और वर्किंग कमेटी भी जानती है कि उन्होंने गल्ती नहीं की। मालवीयजी और अणेका विरुद्ध आचरण भी महात्माजीको विचलित नहीं कर पाया। अत एव वे अगर कांग्रेससे संबंध त्याग ही दें तो उसके साथ इस गड़बड़का कोई संबध नहीं रहेगा। उनको असल भय है सोशलिज्म (साम्यवाद) का। उन्हें घेरे हुए हैं धनी लोग, व्यवसायी लोग। फिर वह समाजतंत्रवादियोंको कैसे ग्रहण करेंगे? इस जगह महात्माजीकी कमजोरी स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

एक बात मैं जानता हूँ कि बंगालके मुसलमानोंने भी ज्वाइंट इलेक्टोरेट (संयुक्त निर्वाचन) माँगना शुरू कर दिया है। यह न होनेपर दोष कहाँ है, इस बातको वे अच्छी तरहसे जानते हैं। यह भूलनेसे काम न चलेगा कि अधिकांश धनी मुसलमान ही नायब, गुमाश्ता, वकील और डाक्टरके कामोंमें अपनी जातिकी अपेक्षा हिंदुओंपर अधिक विश्वास करते हैं। साथ ही साथ यह भी मैं कहता हूँ कि प्रत्येक हिन्दू ही मनसे हृदयसे नेशनलिस्ट (राष्ट्र-वादी) हैं। धर्मविश्वासमें भी वे किसीसे कम या छोटे नहीं हैं। उनके वेद, उनके उपनिषद् बहुत लोगोंकी बड़ी तपस्याके फल हैं। तपस्याका अर्थ ही है

चिन्तन। बहुत लोगोंके बहुतर चिन्तनके फलस्वरूप जो धर्म गठित हुआ है, उसे, जान पड़ता है, आईन-सभामें कुछ सीटें कम होनेकी आशंकासे सर्वनाशका भय दिखानेका प्रयोजन न था।*

साहित्य और नीति

साहित्य-सेवा ही मेरा पेशा है, किन्तु इसकी जाँच-पड़तालके और घिसने-माँजनेके मामलेमें मैं बिल्कुल ही अनभिज्ञ हूँ—मेरे मुँहसे यह बात अद्भुत सुनाई देने पर भी है यथार्थ सत्य। किस धातुके आगे कौन प्रत्यय लगाकर '*साहित्य*' शब्द सिद्ध हुआ है, कहाँपर इसका विशेषत्व है, रस वस्तु क्या है, सच्चा आर्ट (कला) किसे कहते हैं, मिथ्या आर्ट किसे कहते हैं, इसकी संज्ञा क्या है, यह मैं नहीं जानता। सुदूर प्रवास (बर्मा) में क्लर्की कर रहा था, घटनाचक्रसे, लगभग दस वर्ष हुए, इस व्यवसायमें लिप्त हो गया हूँ। कई एक पुस्तकें लिखी हैं, जो किसीको अच्छी लगीं, बहुतोंको नहीं लगीं। जो लोग पण्डित हैं, उन्होंने बड़ी बड़ी किताबोंमेंसे कड़ी कड़ी न काटी जा सकनेवाली नजीरें देकर यह प्रमाणित किया कि बंगला भाषाका मैंने एकदम सर्वनाश कर दिया है। मुझे मालूम नहीं, इतनी जल्दी इतना बड़ा कुकर्म मैंने किस तरह कर डाला, और इसकी क्या कैफियत दूँ, यह भी मुझे पूर्णरूपसे अज्ञात है। अतएव किसी तथ्यपूर्ण गभीर गवेषणाकी लेशमात्र भी आशा आप लोग मुझसे न करें।

वाद-प्रतिवादमें लिप्त होना मेरा स्वभाव नहीं। अपने पक्षका समर्थन करने लायक शक्ति या उद्यम, कोई भी मुझमें नहीं। मैं केवल अपने छोटेसे साहित्यिक जीवनकी परिणतिकी कुछ सादी मोटी मोटी बातें ही आप लोगोंके आगे कह सकता हूँ। शायद कहनेका कुछ प्रयोजन भी है। जवाबदेहीके रूपमें नहीं, क्योंकि पहले ही कह चुका हूँ कि यह मैं नहीं करता। करनेकी आवश्यकता भी नहीं समझता। यह केवल एक आधुनिक साहित्य सेवककी

---

* नागरिक पत्रकी शारदीया संख्यामें, बंगला सन् १३४१ में, प्रकाशित।

बिल्कुल ही अपनी बातें हैं, जो मैं कहना चाहता हूँ। परलोकके बारेमें मैं नहीं जानता कि वहाँ क्या है, किन्तु इस लोककी जीवन-यात्राके मार्गमें जहाँ तक दृष्टि जाती है, देखा है कि विश्वका मानव एक वस्तुको लक्ष्य करके बराबर चल रहा है। उस वस्तुके तीन अंश हैं—art (कला) morality (नीति या सदाचार) और religion (धर्म)। संसारकी सारी मार-काट छीना-झपटी, एकका राज्य दूसरेके द्वारा छीना जाना, एक आदमीकी दुःखकी कमाईको दूसरेके द्वारा ठग लिया जाना, सब प्रकारके काम, क्रोध, लोभ, मोह—ये सब राहके रोड़े हैं, चलनेमें चुभनेवाले काँटे हैं; किन्तु मानवका जो बृहत्तर प्राण है, उसका लक्ष्य केवल इसी जगह है। मारवाड़ी अपनी कपडेकी दूकानपर बैठे बैठे यह बात सुनकर हँसेगा, बडे कपनीका बड़ा साहब अपने आफिसकी टेबिलपर इस सत्यकी उपलब्धि नहीं कर सकेगा, स्टाक-एक्सचेंजकी भीड़में यह बात बिल्कुल ही मिथ्या जान पडेगी; तो भी मैं जानता हूँ कि उनकी भी अन्तिम गति इसी जगह है और इससे बढकर या इससे बड़ा सत्य भी और नहीं है। काहेके लिए इतना लोभ, इतना मोह है ? काहेके लिए इतना वाद-विवाद और झगड़ा है ? काहेके लिए ऐसे ऐश्वर्यकी कामना है ? जो सच्चा ऐश्वर्य है वह सदैव मनुष्यके नित्यके प्रयोजनसे अतिरिक्त है। मनुष्य अकेले उसका उपार्जन करता है, सचय करता है; किन्तु जिस घड़ी वह ऐश्वर्य बन जाता है, उसी घड़ी वह उसके अकेले अपने ही भोगकी चीज नहीं रह जाता। ऐश्वर्यको अकेले ही भोगनेकी चेष्टा करते ही वह अपनेको आप ही व्यर्थ कर देता है। जो सभीका है, वहाँ एक आदमीका लोभ परास्त होगा ही। और इस ऐश्वर्यकी चरम परणति कहाँपर है ? सुन्दर और मंगलकी साधनामें—कला, नीति और धर्ममें। यह अकेलेका नहीं है। यह ऐश्वर्य विश्व-मानवका है। जाने या विना जाने मनुष्यकी चेष्टा—मनुष्यका उद्यम इसी ऐश्वर्यको लानेकी ओर ही अविराम चल रहा है। अतएव जो असुन्दर है, जो अनैतिक (immoral) है, जो अकल्याण है, वह किसी तरह art (कला) नहीं है, धर्म नहीं है। art for art's sake (कला कलाके लिए) की उक्ति भी किसी तरह सत्य नहीं है। सैकड़ों-हजारों आदमियोंके चिल्ला चिल्लाकर कहने पर भी सत्य नहीं है। मानव जातिमें जो बड़ा प्राण है, वह इसे किसी तरह ग्रहण नहीं करता—स्वीकार नहीं करता। अतएव

सच्चा कवि या यथार्थ आर्टिस्ट (कलाकार) कहकर जिसे हम एक हाथसे ग्रहण करेंगे, उसीकी सृष्टिको अन्याय कहकर, कुत्सित कहकर दूसरे हाथसे वर्जन किया ही नहीं जा सकता। बल्कि ऐसा करनेकी चेष्टा करनेसे सबसे बड़ी भूल और सबसे बड़ा अन्याय ही होता है।

किन्तु यह तो हुआ theory (सिद्धान्त) की ओरसे, आदर्शवादकी ओरसे विचार। इसमें शायद उतना विवाद नहीं है। किन्तु स्वयं कविके भीतर, कलाकारके भीतर, जहाँ एक छोटा-सा मनुष्य रहता है, हगामा खड़ा होता है उसीको लेकर। इस जगह लोभ, मोह, यश, निन्दा, prejudice (दुराग्रह), संस्कार आदि बीच-बीचमें ऐसा कुहासा पैदा कर देते हैं कि उसके अंधेरे आश्रयमें ही अनेक fraud (धोखे), अनेक उत्पात घुसकर दारुण उपद्रवकी दीवाल खड़ी कर देते हैं। इसी जगह असत्य और अकल्याणका द्वार है। इस अन्धकारमें अधिकारी और अनधिकारी, कवि और अकवि, सुन्दर और कुत्सित, काव्य और गदगी मिलकर जो मंथन शुरू कर देते हैं, उसकी कीच ही छिटककर विना किसी विचारके सभीके मुँहमें लग जाती है। इस कीचको केवल समय ही धो दे सकता है। इसके हाथसे ही केवल अनागत भविष्यमें शुद्ध और स्नात होकर सत्य वस्तु मनुष्यको देख पड़ती है। इसी कारण जान पड़ता है, कविके भीतर उसका जो अंश कवि है, उसे इस चरम विचारकी प्रतीक्षा करनेमें अटकाव नहीं होता, किन्तु उसका जितना अंश छोटा मनुष्य है, केवल उसे ही सब्र नहीं होता। वह कलह करता है, विवाद करता है, दलबदी करता है, हाथोंहाथ नगद मूल्य चुका लिये विना उसे चैन नहीं। सामयिक पत्रपत्रिकाओंमें उसकी यही जगह बारबार बाहर आ जाती है।

पूज्यवाद रवीन्द्रनाथ कहते हैं, वह स्कूलमास्टर नहीं हैं, कवि हैं। बेत हाथमें लेकर लड़कोंको मनुष्य बनाना उनका पेशा नहीं है। इस बातको लेकर उनके विरुद्ध व्यक्त और अव्यक्त कटु बातोंका सिलसिला बराबर चल रहा है। इन कटु बातोंके मालिक जो लोग हैं वे, जान पड़ता है, कविकी इस उक्तिका यह अर्थ करते हैं कि चूँकि वह बेत हाथमें लेकर लड़कोंको मनुष्य बनानेके लिए राजी नहीं हैं—बातचीतके बहाने भुलाकर बूढ़े लड़कोंको नीतिकी शिक्षा देना नहीं चाहते, तब निश्चय ही उनका मशा लड़कोंको कहींका न रखना या

चहेतू बना देना ही है। किन्तु कविके हृदयकी इस बातको वे समझना या ग्रहण करना ही नहीं चाहते कि काव्य—जो सचमुच काव्य है, वह—चिर-सुन्दर, चिरकल्याणकर है। और इन सब फरफद-फिकरोंके बीच ही कवि और काव्य अपनेको आप निष्फल कर डालते हैं, इस सत्यको ही वे भूल जाते हैं।

इसी बातको मैं यहाँ कुछ दृष्टान्त देकर स्पष्ट करना चाहता हूँ। मेरा अपना पेशा उपन्यास-साहित्य है, अतएव इस साहित्यके विषयमें दो-एक बातें कहना शायद मेरी बिल्कुल ही अनधिकार-चर्चा नहीं गिनी जायगी। जो लोग मेरे नमस्य (प्रणाम करने योग्य) हैं, मेरे गुरुपदवाच्य हैं, उनकी रचनासे एक-आध उदाहरण देनेमें यद्यपि थोड़ा-सा विरुद्ध मत रहता है, पर मैं आशा करता हूँ, आप लोगोंमेंसे कोई उसे असम्मान या अश्रद्धा समझनेकी भूल नहीं करेगा। मेरे साहित्यिक जीवनकी परिणतिके प्रसगमें इसका प्रयोजन भी है। आज-कल ये दो शब्द प्रायः सुने जाते हैं—Idealistic (आदर्शवादी) और Realistic (यथार्थवादी)। कहा जाता है कि मैं दूसरे सम्प्रदायका लेखक हूँ। यह दुर्नाम ही मेरा सबसे अधिक है। अथच, मुझे नहीं मालूम कि किस तरह इन दोनोंको अलग करके लिखा जाता है। आर्ट वस्तु मनुष्यकी सृष्टि है, वह nature (प्रकृति) नहीं है। संसारमें जो कुछ घटित होता है—और अनेक गंदी बातें ही घटित होती हैं—वह किसी तरह साहित्यका उपादान नहीं है। प्रकृतिकी या स्वभावकी हूबहू नकल करना फोटोग्राफी हो सकती है, किन्तु वह क्या तसवीर होगी? दैनिक अखबारोंमें अनेक रोमांच उत्पन्न करने-वाली भयानक घटनाएँ छपती हैं, वह क्या साहित्य है? चरित्रकी सृष्टि क्या इतनी सहज है? मुझसे अनेक लोग दया करके कहते हैं कि महाशय, मैं ऐसी घटना जानता हूँ कि वह अगर आपसे कहूँ तो आपकी एक बहुत अच्छी पुस्तक तैयार हो सकती है।

मैं उनसे कहता हूँ—तो फिर आप ही उसे लिखिए न।

वे कहते हैं—ऐसा हो सकता तो फिर चिन्ता ही क्या थी? यही तो हम नहीं कर सकते!

मैं कहता हूँ—आज न लिख सकें तो दो दिन बाद लिख सकेंगे। ऐसी चीज खामखा हाथसे न गँवाइएगा।

ये लोग नहीं जानते कि ससारमें कुछ अद्भुत जानना ही साहित्यिकके लिए बड़ी सामग्री नहीं है। मैं तो जानता हूँ कि किस तरह मेरे 'चरित्र' गढ़ उठते हैं। वास्तव अभिज्ञताकी मैं उपेक्षा नहीं करता, किन्तु वास्तव और अवास्तवके सम्मिश्रणमें कितनी व्यथा, कितनी सहानुभूति, कितना हृदयका रक्त ढालनेसे ये 'चरित्र' धीरे धीरे बड़े होकर प्रस्फुटित होते हैं, इसे और कोई न जाने, मैं तो जानता हूँ। इसमें सुनीति और दुर्नीतिका स्थान है, किन्तु विवाद करनेकी जगह इसमें नहीं है। यह वस्तु इनसे बहुत ऊँची है। इनको गड़बड़ कर देनेसे जो गोलमाल होता है, उसे काल क्षमा नहीं करता। उससे नीति-पुस्तक होगी, किन्तु साहित्य न होगा। पुण्यकी जय और पापकी क्षय, यह भी होगा, किन्तु काव्यकी सृष्टि न होगी।

मुझे याद है, बचपनमें 'कृष्णकान्तेर विल' (कृष्णकान्तका वसीयत-नामा) की रोहिणीके चरित्रसे मेरे हृदयको बड़ा भारी धक्का लगा था। रोहिणी पापकी राहमें उतर गई। उसके बाद पिस्तौलकी गोलीसे मारी गई। बैलगाड़ीपर लादकर उसकी लाशका चालान हुआ। अर्थात् हिन्दुत्वकी ओरसे पापके परिणाममें कुछ बाकी न रहा। अच्छा ही हुआ, हिंदूसमाज भी पापीके दण्डसे तृप्तिकी साँस छोड़कर बच गया। किन्तु इसका और एक पहलू, जो इन लोगोंसे भी पुरातन और सनातन है—नरनारीके हृदयका गभीरतम, गूढ़तम प्रेम! मुझे आज भी ऐसा प्रतीत होता है कि दुःख और समवेदनासे बंकिमचन्द्रकी दोनों आँखोंमें आँसू भर आये हैं, जान पड़ता है, जैसे उनका कवि-हृदय उन्हींकी सामाजिक और नैतिक बुद्धिके पैरोंके नीचे सिर पटककर आत्महत्या करके मर रहा है।

अनेक बार मेरे मनमें यह बात आई है कि रोहिणी-चरित्र आरंभ करते समय उनकी यह कल्पना नहीं थी। होती तो वह इस तरह उसे न गढ़ पाते। कवि केवल प्रेमके लिए ही इस तरह चुपचाप, छिपकर, वारुणीके जलके तले अपने आप आत्मविसर्जन उस पापिष्ठासे कभी न कराते।

रोहिणीने गोविन्दलालको अकृत्रिम और निष्कपट प्यार किया था, सम्पूर्ण हृदयसे प्रेम किया था और इस प्रेमका प्रतिदान उसने न पाया हो, सो भी नहीं है। किन्तु हिन्दूधर्मकी सुनीतिके आदर्शसे वह इस प्रेमकी अधि-

कारिणी नहीं, यह प्रेम उसका प्राप्य नहीं है। वह पापिष्ठा है, इसीसे पापिष्ठाओंके लिए निर्दिष्ट नीतिके आईनके अनुसार उसे विश्वासघातिनी होना चाहिए, और हुई भी वह। इसके बादका इतिहास बहुत सक्षिप्त है। चार-पाँच मिनटके दर्शनसे ही निशाकरके प्रति आसक्ति और पिस्तौलकी गोलीसे मृत्यु। उसकी मृत्युके लिए मैं खेद नहीं करता, किन्तु करता हूँ उसकी अकारण अहेतुक जबरदस्तीकी अपमृत्युके लिए। अभागिनीके अस्वाभाविक मरणसे पाठक-पाठिकाओंकी सुशिक्षासे लेकर समाजकी विधि और नीतिका Convention (अनुशासन), सभी बच गया, इसमें सदेह नहीं किन्तु वह मरी और उसके साथ ही सत्य, सुदर कला भी मर गई। उपन्यासका चरित्र (पात्र) केवल उपन्यासके आईनसे ही मर सकता है, नीतिके आँख दिखानेसे उसका मरना नहीं चल सकता।

ठीक इन्हीं वजूहातसे श्रीयुत यतीन्द्रमोहन सिंह महाशयने मेरे 'पल्ली-समाज' (ग्रामीण समाज) की विधवा रमाको लक्ष्य करके अपनी 'साहित्यकी स्वत्स्थ्यरक्षा' पुस्तकमें ताना देते हुए कहा है—" ठकुरानी, तुम बुद्धिमती हो न? तुम बुद्धिके जोरसे अपने पिताकी जमींदारीका शासन-प्रबन्ध कर सकीं, और तुम्हीं अपने बाल्य-सखा पर-पुरुष रमेशको प्यार कर बैठीं? यही तुम्हारी बुद्धि है? छिः!" यह धिक्कार कलाका नहीं है, यह धिक्कार समाजका है, यह धिक्कार नीतिका अनुशासन है। इनका मानदण्ड एक नहीं है, इस अक्षर-अक्षर पक्ति-पक्ति एक करनेके प्रयासमे ही सारी भूल, सारे विरोधकी उत्पत्ति है।

श्रीयुत यतींद्रबाबूका सामाजिक धिक्कार कलाके राज्यमें कितनी महामारी उपस्थित कर सकता है, इसका एक और दृष्टान्त देता हूँ। मेरे एक परमश्रद्धास्पद बन्धु प्रवीण साहित्यिक हैं। उनकी एक छोटी-सी कहानी है। उसका प्लाट अत्यन्त सक्षेपमे यह है—नायक एक धनी जमींदार है। नायक (Hero) होनेके कारण उसका हृदय प्रशस्त, प्राण उच्च और नैतिक बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म है। कलकत्तेमें उसका एक बहुत बड़ा मकान है जो किराये पर दिया जाता है। मूल्य लगभग लाख रुपया है। एक तारीखको एक आदमीने वह मकान महीने-भरके लिए किराये पर लिया। घरके मालिक जमींदार पासहीके दूसरे घरमें रहते हैं। अचानक एक दिन रातको उन्होंने उस घरके भीतरसे किसी एक

स्त्रीके रोनेका शब्द सुना। दो तीन दिन बाद पता लगानेसे जाना गया कि उस घरमें गर्भपात कराया गया है और किरायेदार भाड़ा चुकाये बिना ही भाग गया है। उन लोगोंका पता ठिकाना जाना नहीं है। पापका दण्ड देना असंभव है। इसीसे जमींदारने हुक्म दिया कि घरको गिराकर मैदान कर दिया जाय। पाँच-सात दिनके भीतर इतना बड़ा लाखों रुपयेका घर गिराकर मैदान कर दिया गया।

कहानी यहींपर समाप्त हो गई। प्रेसीडेंसी कालेजके एक अँगरेजीके अध्यापक यह कहानी पढ़कर आँखोंमें आँसू भरकर वारम्वार कहने लगे—उन्होंने जीवनमें ऐसी सुदर कहानी और नहीं पढी और ऐसी कहानियाँ बंगला-साहित्यमें जितनी अधिक निकलें, उतना ही मगल है।

ऐसी कहानी मैंने भी अधिक नहीं पढीं, यह मैं अस्वीकार नहीं करता और घर जब मेरा नहीं है, अध्यापकका भी नहीं है और ग्रथकारका भी नहीं है, तब जितना जी चाहे तोड़फोड़कर मिट्टीमें मिला देनेपर भी मुझे आपत्ति नहीं; किन्तु कला और साहित्यकी जो अधिष्ठात्री देवता हैं, उनके मनमें किस भावका उदय हुआ, यह केवल वही जानती हैं।

अच्छा और बुरा संसारमें चिरकालसे चला आ रहा है। अच्छेको अच्छा और बुरेको बुरा कहनेमें कला कभी आपत्ति नहीं करती। किन्तु दुनियामें जो कुछ सत्य ही घटित होता है उसीको बिना विचारे आँख मूँदकर साहित्यका उपकरण बनानेसे वह सत्य तो हो सकता है, पर सत्य-साहित्य नहीं होता।

अर्थात् जो कुछ घटित होता है, उसकी अविकल तसवीरको भी मैं जैसे साहित्य-वस्तु नहीं कहता, वैसे ही मेरा मत यह भी है कि जो घटित नहीं होता, अथच समाज या प्रचलित नीतिकी दृष्टिमें जिसका घटित होना अच्छा है, कल्पनाके द्वारा उसकी उच्छृंखल गतिसे भी साहित्यकी बहुत अधिक विडम्बना होती है

मुझे अवसर थोड़ा है, अपने वक्तव्यको मैं अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर पाया—यह मैं जानता हूँ। किन्तु आधुनिक साहित्य-रचनाके सम्बन्धमें समाजके एक श्रेणीके शुभचिन्तकोंके मनमें किस जगह अत्यन्त क्षोभ और क्रोधका उदय हुआ है, विरोधका आरम्भ कहाँपर है—इस ओर उँगलीसे

दिखानेका काम, मैं समझता हूँ, सम्पूर्ण हो गया है। किन्तु आलोचनाको घोरतर बना डालनेकी मेरी प्रवृत्ति नहीं है, समय नहीं है, शक्ति भी नहीं है; केवल, अशेष-श्रद्धा-भाजन हम लोगोंके पूर्ववर्ती साहित्यचार्योंके चरण-चिह्नोंपर चलनेके मार्गमें कहाँपर वाधा पाकर हम लोग अन्य मार्गपर चलनेके लिए वाध्य हुए हैं, इसका आभास मात्र आप लोगोंके आगे मैंने सविनय निवेदन कर दिया है।

अन्तमें, जो गौरव आज मुझे आप लोगोंने दिया है, उसके लिए और एक बार आन्तरिक धन्यवाद जताकर इस क्षुद्र और अक्षम प्रबन्धको मैं समाप्त करता हूँ।*

साहित्यमें आर्ट और दुर्नीति

मैं जानता हूँ, साहित्य-शाखाका सभापति होनेके योग्य मैं नहीं हूँ, और मुझ जैसे ही जो बूढे हैं, मेरी ही तरह जिनके सिरके बाल और बुद्धि, दोनों ही पककर सफेद हो गये हैं, उनको भी इस विषयमें लेशमात्र सशय नहीं है। किसीके मनमें व्यथा पहुँचानेकी मेरी इच्छा न थी, तो भी जो इस पदको ग्रहण करनेके लिए मैं राजी हो गया, इसका एकमात्र कारण यह है कि अपनी अयोग्यता और भक्तिभाजन लोगोंके मनकी पीड़ा, इतनी बड़ी बड़ी दो बातोंको दबाकर भी उस समय वारवार यही बात मेरे मनमें उठी कि इस अप्रत्याशित चुनावके द्वारा आज नया दल विजयी हुआ है। उनकी सब्ज पताकाका आह्वान मुझे मानना ही होगा, उसका फल चाहे जो हो। और मैं यह प्रार्थना भी सारे अन्तःकरणसे करता हूँ कि आजसे उनकी यात्राका मार्ग उत्तरोत्तर सुगम और सफलतासे मण्डित हो।

---

* बंगला सन् १३३१ के १० आश्विनको वंगीय साहित्य-परिषदकी नदिया शाखाके वार्षिक अधिवेशनके समय दिया हुआ सभापतिका अभिभाषण।

सोलह साल पहले जब बंगलाके साहित्यिकोंके वार्षिक सम्मिलनका आयोजन हुआ था, उस समय मैं विदेश (बर्मा) में था। उसके बहुत दिन बाद तक भी मैंने कल्पना नहीं की थी कि एकदिन साहित्य-सेवा ही मेरा पेशा बन जायगी। लगभग दस वर्ष पहले कई तरुण साहित्यिकोंके आग्रह और एकान्त चेष्टाका ही यह फल हुआ कि मैं साहित्य-क्षेत्रमें प्रविष्ट हो गया।

बंगला-साहित्यकी साधनाके इतिहासमें इन दस वर्षोंकी घटना ही मैं जानता हूँ। अतएव इस विषयमें अगर कुछ कहना ही हो, तो केवल इन थोड़ेसे वर्षोंकी बात ही केवल कह सकता हूँ।

कई महीने पहले पूज्यपाद रवीन्द्रनाथने मुझसे कहा था कि अबकी अगर लखनऊके साहित्य-सम्मेलनमें तुम्हारा जाना हो, तो तुम अभिभाषणके बदले एक कहानी लिखकर ले जाना। अभिभाषणके बदले कहानी! मैंने विस्मित होकर कारण पूछा तो उन्होंने केवल इतना ही उत्तर दिया कि वह कहीं अच्छा है।

इससे अधिक और कुछ उन्होंने नहीं कहा। इतने दिनोंसे साल-ब-साल जो साहित्यसम्मेलन होता आ रहा है, उसके अभिभाषणोंके प्रति या तो उनका आग्रह नहीं है और या उनके मनमें यह खयाल था कि मेरा जो काम है, वही मेरे लिए अच्छा है। एक बार सोचा था कि जब लखनऊ जाना ही नहीं हुआ, तब जहाँ जा रहा हूँ, वहीं उनके आदेशका पालन करूँगा। किन्तु अनेक कारणोंसे उस इच्छाको कार्यरूपमें परिणत न कर सका। किन्तु आज इस अत्यन्त अकिञ्चित्कर लेखको पढ़नेके लिए उठकर खड़े होनेपर मुझे केवल यही जान पड़ रहा है कि वही मेरे लिए बहुत अच्छा था। एक साधारण साहित्य सेवकके लिए इतनी बड़ी सभाके बीच खड़े होकर साहित्यके भले बुरेका विचार करने जानेके बराबर विडम्बना और नहीं है।

बंग-साहित्यके अनेक विभाग हैं—दर्शन, विज्ञान, इतिहास। इन विभागोंके सभापतियोंका पाण्डित्य असाधारण है, बुद्धि तीक्ष्ण और मार्जित है। उनके निकट आप लोग अनेक नये-नये रहस्योंका पता पावेंगे। किन्तु मैं एक

साधारण कहानी-लेखक हूँ। कहानी-उपन्यास लिखनेके सम्बन्धकी ही दो-एक बातें कह सकता हूँ; किन्तु साहित्यके दरबारमें उनका भला कितना मूल्य है ! किन्तु आप लोगोंसे वह उतना मूल्य भी मैं विना विचार किये देनेको नहीं कहता, किसी दिन नहीं कहा, आज भी नहीं कहूँगा। यह केवल मेरी बिल्कुल ही अपनी बात है, जिस बातको मैं अपनी साहित्य-साधनाके दस वर्षोंसे निःसशय होकर अकुण्ठित चित्तसे पकडे हुए हूँ।

इन दस वर्षोंसे मैं एक चीज आनद और गर्वके साथ लक्ष्य करता आया हूँ कि दिन-पर-दिन इसके पाठकोंकी सख्या निरन्तर बढती चली जा रही है, और वैसे ही अविश्रान्त इस अभियोगका भी अन्त नही है कि देशका साहित्य दिनों-दिन नीचे ही गिरता जा रहा है। पहली बात सत्य है और दूसरी अगर सत्य हो तो दुःखकी बात है, भयकी बात है। किन्तु इसे रोकनेका और चाहे जो उपाय हो, केवल कटूक्तियोंके चाबुक मार मारकर ही साहित्यिकोंसे अपनी पसदकी अच्छी अच्छी पुस्तकें नहीं लिखाई जा सकतीं। मनुष्य कोई बैल या घोड़ा नहीं है। आघातका भय उसे है, यह बात सच है; किन्तु अपमान-बोध नामकी एक और चीज उसमें है, यह बात भी उतनी ही सच है। उसकी कलम बन्द की जा सकती है; किन्तु उससे फर्मायशी किताबें अदा नहीं की जा सकतीं। बुरी किताब अच्छी नहीं है, किन्तु उसे रोकनेके लिए साहित्य सृष्टिका द्वार ही वद कर देना उससे हजारगुना अकल्याणकर है।

किन्तु देशका साहित्य क्या सचमुच नवीन साहित्यिकोंके हाथसे नीचेकी ओर गिरता जा रहा है? यह अगर सत्य हो तो मेरा अपना अपराध भी कम नहीं है। इसीसे आज अत्यन्त सक्षेपमें इसी बातकी आलोचना करना चाहता हूँ। यह केवल आलोचनाके लिए ही आलोचना नहीं है। अन्तिम कई वर्षोंकी प्रकाशित पुस्तकोंकी सूची देखकर मुझे जान पडता है, जैसे साहित्य सृष्टिका झरना धीरे धीरे अवरुद्ध होता आ रहा है। संसारमें कूड़ा पुस्तकें ही केवल कूडा नहीं हैं, आलोचनाके बहाने दायित्वहीन कटूक्तियोंके कूडेसे भी वाणीका मन्दिर एकदम समाच्छन्न हो जा सकता है।

बंकिमचद्र और उनके चारो ओरकी साहित्यिक मण्डलीने एक दिन बगालके साहित्याकाशको जगमगा रक्खा था। किन्तु मनुष्य चिरजीवी या अमर नहीं

है। वे लोग अपना काम पूरा करके स्वर्गीय हो गये। उनके दिखलाये मार्ग और उनकी निर्दिष्ट धाराके साथ नवीन साहित्यिकोंका मेल नहीं खाता—भाषामें, भावमें और आदर्शमें—यहाँतक कि प्रायः सभी विषयोंमें। पर यह अधःपतन या गिरावट है या नहीं, यह बात सोचकर देखनेकी है।

'कलाके लिए ही कला,' यह बात पहले मैंने कभी नहीं कही, आज भी नहीं कहता। इसका यथार्थ तात्पर्य आज भी मैं समझ नहीं सका। यह उपलब्धिकी वस्तु है, कविके अन्तरका धन है।

सज्ञा-निर्देश करके दूसरेको इसका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। किन्तु साहित्यका एक और पहलू है, वह बुद्धि और विचारकी वस्तु है। वह युक्तिके द्वारा औरोंको समझाया जा सकता है। मैं आज यही पहलू विशेष करके आप लोगोंके सामने खोलना चाहता हूँ। विष्णुशर्माके समयसे लेकर आजतक हम लोग कहानीके भीतरसे कोई न कोई शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। यह प्रायः हमारा सस्कार बन गया है। इसमें कोई त्रुटि होने पर हम बर्दाश्त नहीं कर सकते। स-क्रोध अभियोगकी बाढ़ जब उमड़ती है, तब इधरके बाँधको तोड़कर ही हुंकारके साथ वह वेगसे दौड़ती है। प्रश्न होता है—क्या पाया, कितनी और कौन शिक्षा मुझे मिली। इस लाभालाभके पहलू पर ही मैं सबसे पहले दृष्टि डालना चाहता हूँ।

मनुष्य अपने सस्कारों और भावोंको लेकर ही तो मनुष्य है, और इन सस्कारों और भावोंको लेकर ही प्रधान रूपसे नवीन साहित्यकोंके साथ प्राचीनपथियोंका संघर्ष छिड़ गया है। सस्कारों और भावोंके विरुद्ध सौन्दर्यकी सृष्टि नहीं की जा सकती, इसीलिए निन्दा और कटूक्तिका सूत्रपात भी इसी जगह होता है। एक दृष्टान्त देकर इस बातको साफ कर दूँ। हिन्दूका यह अस्थिमज्जागत संस्कार है कि विधवा-विवाह करना बुरा है। कहानी या उपन्यासके भीतर विधवा नायिकाका पुनर्विवाह करके किसी साहित्यिकके बूतेकी बात नहीं कि वह निष्ठावान् हिन्दूकी दृष्टिमें सौन्दर्यकी सृष्टि कर सके। पढते ही निष्ठावान् हिन्दूका मन तीखा और विषाक्त हो उठेगा। ग्रथके और सब गुण उसके निकट व्यर्थ हो जायँगे। स्वर्गीय ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर महाशयने जब गवर्नमेंटकी सहायतासे विधवा-विवाहको

वैध ठहरानेका कानून पास कराया, तब उन्होंने केवल शास्त्रीय विचार ही किया था, हिन्दुओंके मनका विचार नहीं। इसीसे आईन अवश्य पास हुआ, किन्तु हिन्दूसमाज उसे ग्रहण नहीं कर सका। उनकी इतनी बड़ी चेष्टा निष्फल हो गई। निन्दा, ग्लानि, निर्यातन उन्हें बहुत सहना पढा किन्तु उन दिनों किसी साहित्य-सेवीने उनका पक्ष ग्रहण नहीं किया। शायद इस अभिनव भावके साथ सचमुच ही उन लोगोंकी सहानुभूति नहीं थी, शायद उनको समाजमें अपने अप्रिय होनेका भी अत्यन्त भय था। चाहे जिस कारणसे हो, उस दिन वह भावधारा वहीं रुक गई—समाज-शरीरके स्तर-स्तरमे, गृहस्थके अन्तःपुरमें सचारित नहीं हो सकी। किन्तु यदि ऐसा न होता, वे ऐसे उदासीन या तटस्थ न रहते, तो यह सच है कि उन्हें निन्दा, ग्लानि, निर्यातन, सब कुछ सहना पड़ता, किन्तु आज शायद हम हिन्दू सामाजिक व्यवस्थाका दूसरा ही चेहरा देख पाते। उस दिनके हिन्दूकी दृष्टिमें जो सौन्दर्य-सृष्टि कदर्य, निष्ठुर और मिथ्या प्रतीत होती थी, आज आधी शतीके बाद उसीके रूपसे शायद हमारे नयन शीतल और मन मुग्ध हो जाता। ऐसा ही तो होता है, साहित्य-साधनामें नवीन साहित्यिकके लिए यही तो सबसे बड़ी सान्त्वना है। वह जानता है कि आजकी लाछना ही उसके जीवनका एक मात्र सत्य और सब कुछ नहीं है, अनागत भविष्यमें उसका भी दिन आवेगा—वह भले ही सौ वर्ष बाद हो, किन्तु उस दिनके व्याकुल, व्यथित नर-नारी सैकड़ों-लाखों हाथ बढाकर आजकी दी हुई उसकी सारी कालिखको पोंछ देंगे। शास्त्र-वाक्यकी अप्रतिष्ठा या अपमान करना मेरा उद्देश्य नहीं है, प्रचलित सामाजिक विधि-निषेधकी समालोचना करनेके लिए भी मैं खड़ा नहीं हुआ। मैं केवल यही बात स्मरण करा देना चाहता हूँ कि करोड़ों वर्षकी पुरानी पृथ्वी आज वैसे ही वेगसे दौड़ती चली जा रही है; नर-नारियोंके यात्रा-पथकी सीमा आज भी वैसे ही बहुत दूर है। उसकी शेष परिणतिकी मूर्त्ति वैसी ही अनिश्चित, वैसी ही अज्ञात है। क्या केवल उसके कर्त्तव्य और चितनकी धारा ही चिरकालके लिए समाप्त हो गई? विचित्र और नई नई अवस्थाओंके बीच होकर उसे दिन-रात जाना होगा—उसके कितने प्रकारके सुख, कितने प्रकारकी आशा-आकांक्षायें हैं—रुकनेका उपाय नहीं।

हैं, चलना ही होगा। क्या केवल अपने चलनेके ऊपर ही उसका कोई कर्तृत्व न रहेगा? किसी सुदूर अतीतमें उसे उस अधिकारसे हमेशाके लिए वञ्चित कर दिया गया है। जो लोग गुजर गये हैं, जो सुख दु:खके बाहर हो गये हैं, जो इस दुनियाका देना पावना चुकाकर परलोकको चले गये हैं, उनकी इच्छा, उनके विचार, उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गका संकेत ही क्या इतना बड़ा है? और जो जीवित हैं, जिनका हृदय व्यथा और वेदनासे जर्जर है, उनकी आशा, उनकी कामना क्या कुछ नहीं हैं? मृतकी इच्छा ही क्या सदैव जीवितकी राह रोके रहेगी? तरुण साहित्य तो केवल यही बात कहना चाहता है। उनके विचार और भाव आज असंगत, यहाँतक कि, अन्याय भी लग सकते हैं, किन्तु वे न कहेंगे तो और कौन कहेगा? मनुष्यकी सुगभीर वासना, नर-नारीकी निगूढ वेदनाका विवरण वह न प्रकट करेगा तो कौन करेगा? मनुष्यको मनुष्य कहाँसे पहचानेगा? वह जिन्दा कैसे रहेगा?

आज वह विद्रोही जान पड़ता है, प्रतिष्ठित विधि-व्यवस्थाके पास शायद उसकी रचना अद्भुत दिखाई देगी, किन्तु साहित्य तो खबरोंका कागज नहीं है। वर्तमानकी दीवार खड़ी करके तो उसकी चौहद्दी सीमामें नहीं बाँधी जा सकती। गति उसकी भविष्यके बीचमें है। आज जो आँखोंसे देखा नहीं जाता, जो आज भी आकर नहीं पहुँचा, उसीके निकट उसका पुरस्कार है, उसीके पास उसकी संवर्द्धनाका आसन बिछा हुआ है।

लेकिन इसीलिए हम समाज संस्कारक नहीं हैं। यह भार साहित्यिकके ऊपर नहीं है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए अगर मैं अपना उल्लेख करूँ तो उसे आप बेअदबी समझकर मुझे अपराधी न ठहरावें। पल्ली समाज (ग्रामीण समाज) नामकी मेरी छोटी-सी पुस्तक है। उसकी विधवा रमाने अपने बाल्यबन्धु रमेशको प्यार किया था, इसके लिए मुझे बहुत झिड़कियाँ और तिरस्कार सहना पड़ा है। एक विशिष्ट समालोचकने ऐसा अभियोग भी किया था कि इतनी दुर्नीतिको प्रश्रय देनेसे गाँवमें फिर कोई विधवा नहीं रहेगी। मरने जीनेकी बात कही नहीं जा सकती, प्रत्येक पतिके लिए यह गहरी दुश्चिन्ताका विषय है किन्तु इसका एक और पहलू भी तो है। इसको प्रश्रय देनेसे भला होगा या बुरा, हिन्दूसमाज स्वर्गमें जायगा या रसातलमें, इस मीमांसाका भार

मेरे ऊपर नहीं है। रमा जैसी नारी और रमेश जैसे पुरुष किसी भी कालमें, किसी भी समाजमें दल-के-दल नहीं जनमते। दोनोंके सम्मिलित पवित्र जीवनकी महिमाकी कल्पना करना कठिन नहीं है। किन्तु हिन्दूसमाजमें इस समाधानके लिए जगह न थी। उसका परिणाम यह हुआ कि इतने बड़े दो महाप्राण नर-नारी इस जीवनमें विफल, व्यर्थ, पंगु हो गये। मनुष्यके बंद हृदय-द्वार तक वेदनाकी यह खबर अगरमें पहुँचा सका होऊँ, तो इससे अधिक और कुछ मुझे नहीं करना है। इस लाभ-हानिको खतियाकर देखनेका भार समाजका है, साहित्यिकका नहीं। रमाके व्यर्थ जीवनकी तरह यह रचना वर्त्तमानमें व्यर्थ हो सकती है, किन्तु भविष्यत्‌की विचार-शालामें निर्दोषके लिए इतनी बड़ी सजाका भोग एक दिन किसी तरह मंजूर न होगा, यह बात मैं निश्चयके साथ जानता हूँ। यह विश्वास यदि न होता तो साहित्य-सेवीकी कलम उसी दिन वहीं सन्यास ले लेती।

पहलेके दिनोंमें बंगला-साहित्यके विरुद्ध और चाहे जो शिकायत रही हो, किन्तु दुर्नीतिकी शिकायत नहीं थी। जान पड़ता है, वह तब भी खयालमें नहीं आई थी। यह अभी हालमें आई है। वे लोग कहते हैं, आधुनिक साहित्यका सबसे बड़ा अपराध यह है कि उसके नर-नारियोंके प्रेमका विवरण अधिकांशमें ही दुर्नीतिमूलक है और उसमें प्रेमकी ही भरमार है। अर्थात् अनेक पहलुओंसे यही चीज जैसे मूलरूपसे ग्रंथकी प्रतिपाद्य वस्तु हो उठी है।

कहनेवाले बिल्कुल ही झूठ नहीं कहते। किन्तु उसके दो-एक छोटे-मोटे कारण रहनेपर भी मूल कारण ही मैं आप लोगोंके आगे खुलासा करना चाहता हूँ। समाज वस्तुको मैं मानता हूँ; किन्तु उसे देवताके रूपमें नहीं मानता। बहुत दिनोंसे ढेरके ढेर जमा हुए नर-नारियोंके बहुतसे मिथ्या, बहुतसे कुसस्कार, बहुतसे उपद्रव इसमें एक होकर मिल गये हैं। मनुष्यके खाने-पहनने और रहन-सहनके बारेमें इसका शासन-दण्ड अति सतर्क नहीं है—किन्तु इसकी एकान्त निर्दय मूर्त्ति दिखाई देती है केवल नर-नारियोंके प्रेमके अवसरपर। मनुष्यको सबसे अधिक सामाजिक उत्पीड़न इसी जगह सहना पड़ता है। मनुष्य इससे डरता है, इसकी वश्यता सम्पूर्ण रूपसे स्वीकार करता है। बहुत दिनोंकी यह ढेर हुई भयकी समष्टि ही अन्तमें विधिबद्ध आईन बन

जाती है। समाज इससे किसीको छुटकारा नहीं देना चाहता। मर्दोंके लिए उतनी मुशकिल नहीं है। मर्दके लिए चकमा देनेका रास्ता खुला है, लेकिन जिसे कहीं कभी किसी तरह छुटकारेका मार्ग नहीं, वह है केवल नारी। इसीसे सतीत्वकी महिमाका प्रचार ही विशुद्ध साहित्य हो उठा है। किन्तु इस प्रापेगण्डाको ही अगर नवीन साहित्यिक अपनी साहित्य-साधनाका सर्वप्रधान कर्त्तव्य मानकर ग्रहण न कर सके, तो उसकी निन्दा नहीं की जा सकती; किन्तु कैफियतके भीतर भी उसके यथार्थ चिन्तनकी बहुत सी चीजें छिपी हुई हैं, यह सत्य भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

एकनिष्ठ प्रेमकी मर्यादाको नवीन साहित्यिक समझता है, इसके प्रति उसके मनमें सम्मान और श्रद्धाकी सीमा नहीं हैं, किन्तु वह जिस चीजको बरदाश्त नहीं कर सकता, वह है चकमा और ढोंग। उसे जान पड़ता है कि इस ढोंगकी दरारसे ही भविष्यके वंशधर जिस असत्यको अपनी आत्मामें संक्रामित करके जन्म-ग्रहण करते हैं, वही उनको जीवन-भरके लिए कायर, कपटी, निष्ठुर और मिथ्याचारी बना डालता है। सुविधा और प्रयोजनके अनुरोधसे संसारमें अनेक मिथ्याओंको ही शायद सत्य कहकर चलाना होता है, किन्तु इन्हीं कारणोंसे जातिके साहित्यको भी कलुषित कर डालनेके बराबर पाप थोड़े ही हैं। सामयिक प्रयोजन कुछ भी हो, उस तंग दायरेसे साहित्यको छुटकारा देना ही होगा। साहित्य जातीय ऐश्वर्य है, ऐश्वर्य प्रयोजनके अतिरिक्त होता है। वर्त्तमानके दैनंदिन प्रयोजनसे उसे (रुपयेकी तरह) भुना कर खाया नहीं जा सकता, यह बात किसी तरह नहीं भूलनी चाहिए।

परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्वकी अपेक्षा बड़ा है—यह बात एक दिन मैंने कही थी। मेरी इस उक्तिको निहायत गंदा रूप देकर मेरे विरुद्ध बेहद गाली-गलौज किया गया। लोग जैसे एकाएक पागल हो उठे। मैंने अत्यन्त सती नारीको चोरी करते, जुआ खेलते, जाल करते और झूठी गवाही देते देखा है, और ठीक इससे उलटा देखना भी मुझे नसीब हुआ है। इस सत्यको नीतिकी पुस्तकमें स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु बूढे लड़के लड़कियोंको कहानीके मिस यही नीतिकी बातें सिखानेका भार साहित्यकारको अपने ऊपर लेना पड़े, तो मैं कहता हूँ कि साहित्यका न रहना ही अच्छा। सतीत्वकी धारणा सदा

एक नहीं रही। पहले भी नहीं थी और बादको भी शायद एक दिन नहीं रहेगी। एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व ठीक एक ही वस्तु नहीं है, यह बात साहित्यके भीतर भी अगर स्थान न पावे, तो फिर यह सत्य कहाँ जीवित रहेगा?

साहित्यकी सुशिक्षा, नीति और लाभालाभका अंश ही अबतक मैं व्यक्त करता आया हूँ। जो चीज इससे भी बड़ी है—इसका आनन्द, इसका सौन्दर्य—उसकी आलोचना करनेका समय अनेक कारणोंसे मुझे नहीं मिला। केवल एक बात कह रखना चाहता हूँ कि आनन्द और सौन्दर्य केवल बाहरकी वस्तु नहीं है। केवल सृष्टि करनेकी त्रुटि ही है, उसे ग्रहण करनेकी अक्षमता नहीं—यह बात किसी तरह सच नहीं है। आज यह शायद असुन्दर और आनन्दहीन जान पड़े, किन्तु यही इसकी आखिरी बात नहीं है, आधुनिक साहित्यके सम्बन्धमें यह सत्य याद रखनेकी जरूरत है।

और एक बात कहकर ही मैं अपने वक्तव्यको समाप्त करूँगा। अँगरेजीमें Idealistic (आदर्शवादी) और Realistic (यथार्थवादी) दो शब्द हैं। हालमें किसी किसीने यह अभियोग उपस्थित किया है कि आधुनिक बंगला-साहित्य अतिमात्रामें यथार्थवादी हो चला है। मैं कहता हूँ, एकको बाद देकर दूसरा नहीं होता। कमसे कम जिसे उपन्यास कहते हैं, वह नहीं होता। हाँ, कौन किधर कितना झुककर चलेगा, यह साहित्यिक शक्ति और रुचिपर निर्भर करता है। किन्तु एक शिकायत यह की जा सकती है कि पहलेकी तरह राजेरजवाड़ों और जमींदारोंके दुःख-दैन्य-द्वन्द्व-हीन जीवनके इतिहासको लेकर आधुनिक साहित्य-सेवीको सन्तोष नहीं होता—उसका मन नहीं भरता! वह नीचेके स्तरमें उतर गया है। यह अफसोसकी बात नहीं है। बल्कि इस अभिशप्त, और तमाम दुःखोंके देशमें, अपने अभिमानको छोड़कर रूसी साहित्यकी तरह जिस दिन वह और भी समाजके नीचेके स्तरमें उतरकर उनके दुःख और वेदनाके बीच खड़ा हो सकेगा, उस दिन यह साहित्य-साधना केवल स्वदेशमें ही नहीं, विश्वसाहित्यमें भी अपना स्थान कर ले सकेगी।

किन्तु बस, और नहीं। आप लोगोंका बहुत-सा समय मैंने ले लिया। बैठनेके पहले और एक बात आप लोगोंको बतानेकी है। बंगालके इतिहासमें यह

विक्रमपुर विराट् गौरवका अधिकारी है। विक्रमपुर पंडितोंका स्थान है, वीरोंकी क्रीड़ाभूमि है, सज्जनोंकी जन्मभूमि है। मेरे परम श्रद्धास्पद चित्तरंजनदास इसी देशके मनुष्य हैं। मुंशीगंजमें आप लोगोंने मेरा जो सम्मान किया है, उसे मैं कभी नहीं भूलूँगा। आप लोग मेरा कृतज्ञतायुक्त नमस्कार ग्रहण करें।*

रवीन्द्रनाथ

कविके जीवनके सत्तर वर्ष पूरे हुए, उनकी आयु सत्तर वर्षकी हो गई। विधाताके आशीर्वादने केवल हम लोगोंको ही नहीं, समग्र मानव-जातिको धन्य किया। सौभाग्यकी इस स्मृतिको मधुर और उज्ज्वल करके हम लोग आनेवाले समयके लिए रख जाना चाहते हैं और उसीके साथ अपना भी यह परिचय आनेवाली पीढ़ियोंको दे जायेंगे कि कविके केवल काव्यसे ही हमारा परिचय नहीं रहा, हमने उनको आँखोंसे देखा है, उनकी बातें कानोंसे सुनी हैं, उनके आसनको चारों ओरसे घेरकर बैठनेका सौभाग्य भी हमें प्राप्त हुआ है।

उसी अनुष्ठानका एक अंग—आजकी यह साहित्य-सभा है। साहित्यके सम्मिलन और भी अनेक होंगे, आयोजन-प्रयोजनमें उनका गौरव भी कम न होगा। किन्तु आजके दिनकी असाधारणता वे न पावेंगे। यह तो साधारणका नहीं एक विशेष दिनका है। इसीसे इसका दर्जा स्वतन्त्र है।

साहित्यके दरबारमें सभापतिका काम करनेके और भी निमन्त्रण मुझे मिले हैं। उन बुलावोंकी उपेक्षा मैं नहीं कर सका। अपनी अयोग्यता स्मरण करके भी संकोचके साथ अपना कर्त्तव्य समाप्त कर आया हूँ। किन्तु इस सभामें केवल संकोच ही नहीं, लज्जाका भी अनुभव कर रहा हूँ। इसमें मुझे तनिक भी संशय नहीं कि यह गौरव मेरा प्राप्य नहीं है। यह मेरा प्रचलित बनावटी विनय प्रदर्शन नहीं है। यह मेरा निष्कपट सत्य कथन है।

तो भी मैंने इस आमन्त्रणको अस्वीकार नहीं किया। क्यों नहीं किया, यही यहाँ व्यक्त कर देना चाहता हूँ।

---

* बंगला सन् १३३१ के चैत्र मासमें मुंशीगंज—साहित्य-सभाके सभापति पदसे दिया हुआ भाषण।

मैं जानता हूँ, वितर्कका यह स्थान नहीं है। साहित्यके भले-बुरेके विचार और उसके जाति-कुल-निर्णयकी समस्याके लिए यह सभा नहीं बुलाई गई। इन बातोंका प्रयोजन यथास्थान होगा। हम यहाँ वयोवृद्ध कविको श्रद्धाका अर्घ्य देनेके लिए, उनसे सहज भावसे यह कहनेके लिए एकत्र हुए हैं कि हे कवि, तुमने बहुत कुछ दिया है; इस लम्बे समयमें हमने तुमसे बहुत कुछ पाया है। सुन्दर, सबल, सर्वसिद्धिदायिनी भाषा तुमने दी है, विचित्र छन्दोंमें बँधा काव्य दिया है, अनुरूप साहित्य दिया है, जगतको बंगला भाषा और भाव-सम्पद्का श्रेष्ठ परिचय दिया है, और सबसे बड़ा दान तुम्हारा यह है कि तुमने हमारे मनको बड़ा बना दिया है। तुम्हारी सृष्टिका सूक्ष्म विचार करना मेरे बूतेके बाहर है—यह मेरे धर्मके विरुद्ध है। जो लोग प्रज्ञावान् हैं, वे यथासमय यह विचार करेंगे; किन्तु तुमसे मैंने स्वयं क्या पाया है, इसी बातको संक्षिप्त करके कहनेके लिए यह निमन्त्रण स्वीकार किया है।

भाषाकी कारीगरी या कारुकार्य मेरे पास नहीं है। उसके लिए जितनी विद्या और शिक्षाकी जरूरत है, वह मैंने नहीं पाई। इसीसे अपने मनके भाव प्रचलित सहज शब्दोंमें कहनेका ही मुझे अभ्यास है और इसी तरह मैंने अपनी बात कहनी चाही थी; किन्तु मेरे किसी बुरे ग्रहने आकर उसमें विघ्न डाल दिया। एक तो मैं यों ही आलसी प्रसिद्ध हूँ, उसपर वात-पित्त-कफ आदि आयुर्वेदोक्त चरोंके दलने एकसाथ कुपित होकर मुझे शय्याशायी कर दिया। ऐसा भरोसा न था कि चारपाईसे हिल सकूँगा। किन्तु एक मुसीबत यह है कि हमेशासे देखता आ रहा हूँ, मेरी बीमारीकी बातपर कोई विश्वास नहीं करता, जैसे मुझे रोग होना ही न चाहिए। कल्पनासे मैंने स्पष्ट देख पाया कि सभी गर्दन हिलाकर स्मित हास्यसे कह रहे हैं—वह न आवेंगे तो ? यह हम जानते थे। इन्हीं वाक्य-बाणोंके भयसे ही मैं किसी तरह यहाँ आकर उपस्थित हुआ हूँ। इस समय देखता हूँ, मैंने अच्छा ही किया। यह न आ सकनेका दुःख जीवनभर न मिटता। किन्तु जो लिख लानेकी इच्छा थी, वह न लिख पाया। एक कारण पहले ही बता चुका हूँ। लेकिन उससे भी बड़ी दूसरी कैफियत है। मनुष्यको पानेकी बात ही थोड़ी-बहुत याद रहती है, इसीसे लिखने जब बैठा तो देखा, कविसे क्या पाया, इसका हिसाब देनेकी चेष्टा वृथा है। दफावार फर्द नहीं मिलती।

बचपनकी बात याद है। छोटेसे गँवई-गाँवमें मछली पकड़ने, डोंगी ठेलने और नाव चलानेमें ही दिन बीते। वैचित्र्यके लोभसे बीच-बीचमें यात्रादलमें* शागिर्दी भी की। उसका आनंद और आराम जब परिपूर्ण हो उठा, तब कंधेपर अँगोछा डालकर निरुद्देश यात्राके लिए निकल पड़ा। ठीक विश्वकविके काव्य जैसी निरुद्देश यात्रा नहीं, उससे कुछ अलहदा। उसके समाप्त होनेपर फिर एकदिन क्षतविक्षत पैर और निर्जीव शिथिल देह लिये घर लौट आया। आदर अभ्यर्थनाके समाप्त होनेपर अभिभावकोंने फिर स्कूलमें चालान कर दिया। वहाँ फिर एक बार सम्वर्द्धना पानेके बाद पुनः 'बोधोदय' और 'पद्यपाठ' पढ़नेमें मन लगाया। फिर एक बार प्रतिज्ञा भूल गया, फिर दुष्ट सरस्वती कंधेपर चढ बैठी, फिर शागिर्दी शुरू की, फिर निरुद्देश यात्रा शुरू हुई। फिर लौटकर घर आया, फिर वैसी-ही खातिर और पूजा की गई। इसी तरह बोधोदय, पद्यपाठ और बंगाली जीवनका एक अध्याय समाप्त हुआ। अब शहरमें आया। एकमात्र बोधोदयकी नजीरसे गुरुजनोंने छात्रवृत्ति-क्लासमें भर्ती कर दिया। उसकी पाठ्य पुस्तकें थीं—सीता वनवास, चारुपाठ, सद्भावशतक और एक बहुत मोटी व्याकरणकी पोथी। यह केवल पढे जाना न था, मासिक और साप्ताहिक पत्रोंमें समालोचना लिखना न था, यह पण्डितजीके पास आमने-सामने खड़े होकर प्रतिदिन परीक्षा देना था। अतएव संकोचके साथ कहा जा सकता है कि साहित्यके साथ मेरा प्रथम परिचय आँखोंके जलके साथ हुआ। उसके बाद बड़े दुःख सहकर एक दिन वह मियाद भी समाप्त हुई। उस समय खयाल भी न था कि मनुष्यको दुःख देनेके सिवा साहित्यका और कोई उद्देश्य है।

जिस परिवारमें मैं पला, उसमें काव्य और उपन्यास दुर्नीतिके ही दूसरे नाम थे और संगीत अस्पृश्य था। उसमें सभी लोग पास करना और वकील बनना चाहते थे। इसीके बीच मेरे दिन बीतते रहे। किन्तु एकाएक एकदिन इसमें भी उलट पुलट हो गया। मेरे एक आत्मीय उन दिनों विदेशमें

* उत्तर भारतकी रासमंडली या नौटकी-दलके समान बंगालमें यात्रा-दल होते हैं। ये खुलेमें अभिनय और गाना-बजाना करते हैं।

थे। वह घर आये। उन्हें सगीतसे अनुराग और काव्यसे प्रेम था। घरमें एक दिन औरतोंको जमा करके उन्होंने रवीन्द्रनाथका 'प्रकृतिका प्रतिशोध' पढकर सुनाया। मालूम नहीं, किसने कितना समझा, किन्तु जो पढ रहे थे, उनके साथ मेरी भी आँखोंमें आँसू आ गये। किन्तु कहीं पीछे दुर्बलता न प्रकट हो जाय, इस लज्जासे मैं चटपट बाहर चला आया। किन्तु काव्यके साथ दुबारा परिचय हुआ और खूब याद आता है कि अबकी मैंने उसका प्रथम सत्य परिचय पाया। इसके बाद इस परिवारका वकील बननेका कठोर नियम सयम मेरी प्रकृतिको बर्दाश्त न हुआ—मुझे फिर अपने उसी पुराने गाँवके घरको लौटना पड़ा। किन्तु अबकी 'बोधोदय' नहीं, पिताजीकी टूटी-मेजकी दराजसे ढूँढकर बाहर निकाली 'हरिदासकी गुप्त कथा'। दूसरी पुस्तक निकली 'भवानी पाठक'। गुरुजनोंको दोष नहीं दे सकता, ये स्कूल-पाठ्य-पुस्तकें नहीं, बद लड़कोंकी अपाठ्य पुस्तकें थीं। इसीसे इनके पढनेकी जगह करनी पड़ी अपने घरकी गोशालामें। वहाँ मैं पढता था और वे सुनते थे। अब पढता नहीं हूँ लिखता हूँ। उन पुस्तकोंको कौन पढता है, नहीं जानता। मास्टर महाशयने स्नेहवश इतना-सा इशारा दिया कि एक ही स्कूलमें बहुत पढनेसे विद्या नहीं आती। अतएव मुझे फिर शहरको लौटना पडा। कह देना अच्छा है कि इसके बाद फिर स्कूल बदलनेकी जरूरत नहीं हुई। अबकी मुझे 'बंकिम-ग्रन्थावली' की खबर मिली। उपन्यास-साहित्यमें इसके बाद भी कुछ है, यह मैं उस समय सोच भी न पाता था। पढपढ़कर ग्रंथावली जैसे बरजबान हो गई। जान पड़ता है, मुझमें यह एक दोष है। यह बात नहीं कि मैंने अध अनुकरणकी चेष्टा नहीं की। लिखनेकी दृष्टिसे वैसा लिखना यद्यपि बिलकुल व्यर्थ हुआ है, किन्तु चेष्टाकी दृष्टिसे उस सचयको मैं आज भी अनुभव करता हूँ।

इसके बाद आया 'बगदर्शन' के नवीन संस्करणका युग। उसमें उन दिनों रवींद्रनाथकी चोखेर बाली (आँखकी किरकिरी) धारावाहिकरूपसे प्रकाशित हो रही थी। उसमें भाषा और भाव-प्रकाशनकी शैलीका एक नया प्रकाश देख पड़ा। उस दिनकी वह गहरी और सुतीक्ष्ण आनन्दकी स्मृति मैं कभी न भूलूँगा। कोई कुछ इस तरह कहा जा सकता है, दूसरेकी कल्पनाके चित्रमें पाठक अपने मनको इस तरह आँखोंसे देखना चाहता है, यह बात

इससे पहले कभी सपनेमें भी नहीं सोची थी। इतने दिनोंमें केवल साहित्यका नहीं, अपना भी जैसे एक परिचय पाया। बहुत पढ़नेसे ही बहुत पाया जाता है—यह बात सत्य नहीं है। वह थोड़ेसे ही पन्ने तो हैं, उन्हींके बीचमें जिन्होंने इतनी बड़ी सम्पत्ति उस दिन हम लोगोंके हाथमें पहुँचा दी, उनके प्रति कृतज्ञता जतानेकी भाषा कहाँ मिलेगी?

इसके बाद ही साहित्यके साथ मेरा सम्बन्ध छूट गया। मैं भूल ही गया कि जीवनमें एक लाइन भी मैंने किसी दिन लिखी है। बहुत-सा समय प्रवासमें बीता। इस बीचमें कविको केन्द्र करके किस तरह नवीन बंगला-साहित्य तेजीके साथ समृद्धिसे भर उठा, उसकी कोई खबर मुझे नहीं है। कविके साथ किसी दिन भी मुझे घनिष्ट होनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, उनके पास बैठकर साहित्यकी शिक्षा प्राप्त करनेका सुयोग भी नहीं मिला। मैं एकदम ही बिछड़ा रहा। यह है बाहरका सत्य, किन्तु भीतरकी बात इससे बिल्कुल उलटी है। उस विदेशमें मेरे साथ कविकी कुछ पुस्तकें थीं—काव्य और कथा-साहित्य, और मनके भीतर परम श्रद्धा और विश्वास। तब घूम फिरकर इन कई एक पुस्तकोंको ही मैं बारबार पढ़ता था। क्या उनका छन्द है, कितने अक्षर हैं, आर्ट किसे कहते हैं, उसकी सज्ञा क्या है, वजन मिलानेमें कहीं कोई त्रुटि हुई है या नहीं, ये सब बड़ी बातें सोची भी नहीं। यह सब मेरे लिए फिजूल था। केवल सदृढ विश्वासके आकारमें मनके भीतर यह भाव था कि इससे बढकर परिपूर्ण सृष्टि और हो ही नहीं सकती। क्या काव्यमें और क्या कथा-साहित्यमें यही मेरी पूँजी थी।

एक दिन अप्रत्याशित भावसे अचानक जब साहित्यसेवाकी पुकार हुई तब यौवनका दावा समाप्त करके प्रौढ़त्वके इलाकेमें मैं पैर रख चुका था। देह थकी हुई थी, उद्यम सीमामें बँध गया था, सीखनेकी अवस्था पार हो गई थी। रहता था प्रवासमें, सबसे अलग, सबसे अपरिचित। किन्तु पुकारका मैंने उत्तर दिया—भयकी बात मनमें ही नहीं आई। और कहीं न हो, पर साहित्यमें गुरु-वादको मैं मानता हूँ।

रवीन्द्रके साहित्यकी व्याख्या मैं नहीं कर सकता। किन्तु ऐकान्तिक श्रद्धाने उसके मर्मका पता मुझे दे दिया है। पण्डितोंके तत्त्व-विचारमें, उसमें अगर कोई भूल-चूक हो तो रहे, किन्तु मेरे निकट वही सत्य है।

मैं जानता हूँ कि रवीन्द्रके साहित्यकी अलोचनामें यह सब अवास्तव, शायद अर्थहीन है; किन्तु आरभमें ही मैं कह चुका हूँ कि आलोचनाके लिए मैं यहाँ नहीं आया। उसके सहस्र-धारा-प्रवाहित सौन्दर्य और माधुर्यका विवरण देना भी मेरी शक्तिके बाहर है। मैं तो आया था केवल अपनी कुछ व्यक्तिगत बातोंको इस जयन्ती-उत्सवकी सभामें निवेदन करनेके लिए।

काव्य, साहित्य और कवि रवीन्द्रनाथको मैंने जिस भावसे प्राप्त किया है, वह मैंने जता दिया। मनुष्य रवीन्द्रनाथके संस्पर्शमें मैं साधारण ही आया हूँ। एक दिन कविके पास गया था बंगला-साहित्यमें समालोचनाकी धारा प्रवर्तित करनेका प्रस्ताव लेकर। अनेक कारणोंसे कवि उस प्रस्तावको स्वीकार नहीं कर सके। उसका एक कारण उन्होंने यह बताया था कि जिसकी प्रशसा करनेमें वह असमर्थ हैं, उसकी निन्दा करनेमें भी वह वैसे ही अक्षम हैं। यह भी उन्होंने कहा था कि तुम लोग यदि यह काम करो तो यह कभी न भूलो कि अक्षमता और अपराध एक ही वस्तु नहीं हैं। मैं सोचता हूँ, साहित्यके विचारमें यदि इस सत्यको सभी याद रखते!

किन्तु इस सभामें मैंने आपका बहुत-सा समय बर्बाद किया, बस, अब और नहीं करूँगा। अयोग्य व्यक्तिको सभापति चुननेका यह दण्ड है। यह आपको सहना ही होगा। खैर, वह चाहे जो हो, रवीन्द्र-जयन्ती-उत्सवके उपलक्षमें यह समादर और सम्मान मेरे लिए आशातीत है। इसीसे सकृतज्ञ चित्तसे आप लोगोंको नमस्कार करता हूँ। *

मुसलिम साहित्य-समाज

मुसलिम साहित्य-समाजके दशम वार्षिक अधिवेशनमें मुझे आप लोगोंने सभापति चुना है। यद्यपि इसका नाम आप लोगोंने मुसलिम साहित्य-समाज रक्खा है, तथापि इस चुनावमें एक बड़ी भारी उदारता है। आप लोगोंने यह प्रश्न नहीं किया कि मैं हिन्दू-समाजके अन्तर्गत हूँ; या मुसलमान-

* बंगला सन् १३३८ में रवीन्द्र जयन्तीके उपलक्षमें पठित।

समाजके, मैं बहुत देवताओंका उपासक हूँ या एकेश्वरवादी। आपने केवल यह सोचा कि मैं बगाली हूँ, बगसाहित्यकी सेवामें ही बूढ़ा हुआ हूँ। अतएव साहित्यके दरबारमें मेरा भी एक स्थान है। वह स्थान आपने मुझे बिना किसी हिचकके खुशीसे दिया है। मैंने भी कृतज्ञ चित्तसे आनन्दके साथ उस दानको ग्रहण किया है। सोचता हूँ, अगर आज सभी विषयोंमें ऐसा हो सकता। जो गुणी है, जो महान् है, जो बड़ा है, वह चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई, चाहे स्पृश्य हो चाहे अस्पृश्य, चाहे जो हो, बिना हिचकके विनयके साथ उसके योग्य आसन उसे हम दे सकते। सशय, दुविधा कहीं कॉंटे न बो सकती। किन्तु इस बातको छोड़ो। मैंने पहले एक पत्रमें कहा था, साहित्यमें तत्त्व-विचार बहुत हो गया है। अनेक मनीषी, अनेक रसिक, अनेक अधिकारी बहुत बार इसकी सीमा और स्वरूपका निर्देश कर चुके हैं। उस आलोचनाको और चलानेमें मेरी रुचि या प्रवृत्ति नहीं हैं। मैं कहता हूँ, यह साहित्य-सम्मिलन प्रबध या लेख पढ़नेके लिए नहीं है, सुतीक्ष्ण समालोचनासे किसीको धराशायी करनेके लिए नहीं है, कौन कितना अक्षम है, इसकी उच्च कण्ठसे घोषणा करनेके लिए नहीं है, जिसने जो लिखा है उससे अच्छा क्यों नहीं लिखा, इसकी कैफियत लेनेके लिए नहीं है, यह केवल साहित्यिकोंसे साहित्यिकोंके मिलनेका क्षेत्र है। इसका आयोजन एकके साथ दूसरेके भाव-विनिमय और अच्छी तरह परिचयके लिए है। मुझे याद आता है, जब अवस्था कम थी, जब इस व्रतमें नया ही नया व्रती हुआ था, तब बुलावा पाकर भी मैं कितनी ही साहित्यसभाओंमें दुविधा और सकोचके मारे उपस्थित नहीं हो सका। मैं निश्चयके साथ जानता था कि सभापतिके लबे अभिभाषणका एक अश मेरे लिए निर्दिष्ट होगा ही। कभी नाम लेकर, कभी न लेकर। वक्तव्य अति सरल होगा। मेरी रचनाओंसे देशके दुर्नीतिसे परिपूर्ण होनेमें अब कसर नहीं है और सनातन हिन्दू-समाज जहन्नुममें जाना ही चाहता है। जानेकी आशका थी, अगर मैं असहिष्णु होकर नजीरें देकर उसका जवाब देता। लेकिन यह अपकर्म मैंने किसी दिन नहीं किया। सोचता था, मेरी साहित्य-रचना अगर सत्यकी नींव पर खड़ी है, तो उसे एक-न-एक दिन लोग समझेंगे ही। जो कुछ हो, यह दुःख मैंने आप भोगा है, दूसरेको नहीं देना चाहा। मगर यह मैं बिना कपटके कह सकता हूँ कि मेरा यह अभिभाषण सुनकर

आप लोगोंकी साहित्यिक जानकारी एक तिल भी नहीं बढ़ेगी और जब जानता हूँ कि बढ़ेगी नहीं, तब फिर फिजूल बातोंकी अवतारणा क्यों करूँ? यहीं समाप्त करना ही तो ठीक होता। ठीक न होता, यह बात नहीं है, लेकिन एक दिन यह बात मैंने आप ही उठाई थी, इसीलिए उसीके सूत्रको पकड़कर इस सम्मिलनमें और भी कुछ थोड़ी-सी बातें कहनेका लोभ होता है।

एक दिन मेरे कलकत्तेके मकानमें काजी मुतहर साहब आकर उपस्थित हुए। वह साहित्यकी आलोचना करने नहीं आये थे, आये थे शतरज खेलने। यह दोष हम दोनोंमें है। मेरी तबियत अच्छी न थी, इससे खेल नहीं हुआ, हुई वर्तमान साहित्यके प्रसगमें थोड़ी-सी आलोचना। उसीका भाव मोटे तौरपर मैंने कल्याणीया जहानआराके वार्षिक पत्र 'वर्ष-वाणी' में छपनेके लिए चिट्ठीके रूपमें लिख भेजा। और वही 'अवाछित व्यवधान' शीर्षकसे 'बुलबुल' मासिकपत्रके सम्पादक श्रद्धेय मोहम्मद हबीबुल्लाह साहबने उद्धृत किया अपनी आषाढकी सख्यामें। मैंने देखा, उसका एक जवाब श्रीलीलामय रायने और दूसरा जवाब वाजिदअली साहबने दिया है।

लीलामयके लेखमें क्षोभ है, क्रोध है, निराशा है। मैंने कहा था कि साहित्यकी साधना अगर सत्य है तो उसी सत्यके द्वारा एक दिन एकता आवेगी। कारण, साहित्यिक लोग परस्पर एक दूसरेके परम आत्मीय हैं। हिन्दू हों, मुसलमान हों, ईसाई हों, तो भी वे गैर नहीं हैं—अपने ही आदमी हैं। लीलामयने कहा है—"प्रतिकार यदि है तो वह साहित्यमें नहीं है, वह स्वाजात्यमें है।" स्वाजात्य शब्दसे उन्होंने क्या कहना चाहा है, मेरी समझमें नहीं आया। उन्होंने कहा है—"ऐक्य वस्तु organic (मनकी) है। हाड़के साथ मांस जोड़नेसे जैसे मनुष्य नहीं होता वैसे ही हिन्दूके साथ मुसलमान जोड़नेसे बंगाली नहीं होता, भारतीय नहीं होता।" इसके बाद कहा है—"हिन्दू और मुसलमानमें समझौतेके अलावा और कुछ करनेको नहीं है। अतएव व्यवधान रह ही जायगा, जातीयता भी न होगी, आत्मीयता भी न होगी।" ये सब बातें क्षोभके प्रकाशके सिवा और कुछ नहीं हैं। किन्तु मैं कहता हूँ कि इन लोगोंके श्रेष्ठ साहित्यिक, पण्डित और विचारशील लोग भी आज अगर ऐसी ही बातें कहने लगें तब तो फिर निराशासे चारों ओर अन्धकार ही देख पड़ेगा। यह बात क्या

ये लोग नहीं जानते ? मनकी कटुतासे कोई मीमांसा नहीं होती, मिलन भी नहीं होता। और ऐसी ही हताशाका भाव मोहम्मद वाजिदअलीके लेखमें भी प्रकट हुआ है। उन्होंने कहा है—"आज जो लोग नये सिरेसे हमारे दो पड़ोसी समाजोंके संबंधमें विचार करेंगे, इस बातको लेकर जिस अद्भुत समस्याकी सृष्टि हुई है, उसका बंधन काटकर कल्याणके अभिसारी होंगे, उनका रास्ता लंबा है, उनकी साधना कठिन है।" मैं यह बात नहीं मानना चाहता। मैं जोरके साथ प्रश्न करना चाहता हूँ कि उनकी राह क्यों लम्बी होगी ? काहेके लिए उनकी साधना सुकठिन हो उठेगी ? क्यों हम एक सहज सुंदर राहसे इस समस्याका समाधान खोज न पावेंगे ? वाजिदअली साहबने इसके बाद फरमाया है कि "जिनके मनमें प्रबल विरोधका भाव है, हृदयमें गहरी अप्रीति है, चित्तमें लम्बा व्यवधान है, यह तो उन्हीं लोगोंको खींचखाँचकर पासपास खड़ा करना हुआ। शिष्टाचारके तकाजेसे उनका हाथसे हाथ तो मिला, पर आँखें नहीं मिलीं। एक आदमीका हृदय दूसरे आदमीके हृदयसे सौ योजन दूर रहा।' इसका कारण दिखाते हुए उन्होंने कहा है—"अपरिचित मुसलमान आया विजयीके वेषमें, उसने राजाके आसनपर अधिकार किया। यह बात नहीं है कि लोग उसके अनुगत नहीं हुए या उसे राजाका सम्मान नहीं मिला। किन्तु भारतवर्षको अपना देश स्वीकार करके भी देशके मनकी मित्रता उसे नसीब नहीं हुई। इन दोनोंके बीच अपरिचयका जो व्यवधान है, वह आवांछित होनेपर भी किसी दिन नहीं मिटा।" किन्तु यही क्या पूरा सत्य है ? अगर सत्य है तो यह अवांछित व्यवधान मिटाकर मित्रता करनेमें कितने-से दिन लगेंगे ? जान पड़ता है, लीलामयने बड़ी व्यथाके कारण ही लिखा है—"जो लोग विदेशसे आये हैं और आज भी यह बात मनमें रक्खे हुए हैं, जिन लोगोंने अब तक पानीके ऊपर तेलकी तरह रहनेका निश्चय कर रक्खा है, जिन लोगोंको देशके अतीतके बारेमें खोजकी इच्छा और वर्त्तमानके सम्बन्धमें वेदनाका बोध नहीं है, राष्ट्रके भीतर और एक राष्ट्र (पाकिस्तान) की रचना करना ही जिनका स्वप्न है, उनके हम लोग कौन हैं, जो गले पड़कर उन्हें अप्रिय सत्य सुनाने जायँगे ?"

इस बातका यह मतलब नहीं कि हम व्यवधानको पसंद करते हैं, मित्रता नहीं चाहते। परस्परकी आलोचना-समालोचना छोड़ देना ही हमारा

कर्तव्य है। इस कथनका तात्पर्य क्या है, सो समस्त साहित्य-रसिक समझदार मुसलिम-समाजसे ही सोचने—उसपर ध्यान देने—के लिए मैं कहता हूँ, कलह-विवाद, तर्क-वितर्क, वाद-वितंडा करके नहीं। कहाँ भ्रम है, कहाँ अन्याय है, कहाँ अविचार छिपा हुआ है, उस अकल्याणको सुस्थ सबल चित्तसे खोज निकालनेके लिए कहता हूँ, और दोनों पक्षोंसे विनय और श्रद्धाके साथ उसे स्वीकार कर लेनेके लिए। तब हम परस्परसे स्नेह, प्रेम और क्षमा अवश्य ही पावेंगे।

वाजिदअली साहबने एक बड़ी अच्छी भरोसेकी बात कही है और वह हिन्दू मुसलमान सबको याद रखनी चाहिए। उन्होंने कहा है—"मुसलिम साहित्य-सेवक अरबी-फारसी शब्दोंको बंगला भाषाके शरीरमें जोड़ना चाहते हैं, इसपर आपत्ति अनापत्ति अति तुच्छ बात है; क्योंकि केवल कलम चलाकर यह काम नहीं हो सकता। इसके लिए चाहिए प्रचुर साहित्यिक शक्ति, चाहिए सृष्टि करनेवाली प्रतिभा। ये दोनों (शक्ति और प्रतिभा) जहाँ नहीं हैं, वहाँ भाषा-भूषण पहननेकी चेष्टामें अत्यन्त सहजमें ही स्वाँग बना जा जा सकता है।

स्वाँग तो बनेगा ही। किन्तु यह ज्ञान है किसे? जो यथार्थ साहित्य-रसिक है, उसे। भाषाको जो प्रेम करता है, निष्कपटभावसे उसके साहित्यकी सेवा करता है, उसे। उसका तो मुझे भय नहीं है। मुझे भय है उन लोगोंका जो साहित्य-सेवा न करके भी साहित्यके ठेकेदार बन बैठे हैं। प्रिय न होनेपर भी एक दृष्टान्त देता हूँ। 'महेश'[1] नामकी मेरी एक छोटी-सी कहानी है। बहुत-से साहित्य-प्रेमियोंने उसकी प्रशंसा की है। एक दिन सुना गया कि वह कहानी मैट्रिककी पाठ्य पुस्तकमें स्थान पा गई है और फिर एक दिन सुन पड़ा कि वह अपनी जगहसे हटा दी गई है। विश्वविद्यालयके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। सोचा, शायद ऐसा ही नियम होगा। कुछ दिन कोई चीज पाठ्य पुस्तकमें रहती है, फिर निकाल दी जाती है। किन्तु बहुत दिनों बाद एक साहित्यिक बन्धुके मुखसे बातों ही बातोंमें उसका असल कारण सुननेको मिला। मेरी कहनीमें गो-हत्या

---

१ देखिए, शरत्-साहित्य भाग १५।

कराई गई है। ओहो! हिन्दू बालकोंकी छातीमें इससे शूल-सा लगेगा! विश्वविद्यालयके बंगला-विभागके लंबी तनख्वाहवाले अध्यक्ष महाशय इस अनाचारको कैसे सहन कर लेते? इसीसे 'महेश' की जगह-पर अध्यक्ष महाशयकी स्व-लिखित कहानी 'प्रेमके ठाकुर' का शुभागमन हुआ। मेरी 'महेश' कहानी किसी-किसीने पढी होगी, और शायद बहुतोंने नहीं पढी होगी। इसीसे उसकी विषय-वस्तु सक्षेपमें यहाँ कह दूँ। एक हिन्दू जमींदारके छोटेसे गाँवमें, जहाँ हिन्दू ही अधिक रहते थे, गरीब किसान गफूरका घर था। बेचारेके होनेके नाते था एक बहुत जीर्ण जर्जर बहुतसे दोंवाला फूसका घर, लगभग दस सालकी लड़की अमीना और एक साँड़। गफूरने दुलारसे उसका नाम महेश रख दिया था। बाकी लगानकी बाबत जब उस छोटेसे गाँवके उससे भी छोटे जमींदारने उसके खेतका सब धान-पयाल रोक लिया, तब उसने रोकर कहा—हजूर! मेरा धान तुम ले लो, हम बाप-बेटी दोनों भीख माँगकर खा लेंगे, लेकिन यह पयाल मुझे दे दो। नहीं तो इस दुर्दिनमें मैं अपने महेशको कैसे जीता रखूँगा? किन्तु उसका रोना अरण्य-रोदन ही हुआ—किसीने दया नहीं की। इसके बाद उसको कितने ही प्रकारके दुःख मिलना शुरू हुआ, कितनी ही तरहसे उसे सताया जाने लगा। लड़की जब बाहर पानी भरने जाती थी, तब गफूर लड़कीसे छिपाकर उसी जीर्ण छप्परका फूस नोच-नोचकर महेशको खिलाता था, झूठमूठ ही कह देता था कि बेटी अमीना, मुझे आज बुखार है, मेरे हिस्सेका भात तू महेशको दे दे और दिनभर आप भूखा ही रह जाता। भूखकी ज्वालासे महेश कुछ अत्याचार कर बैठता था, तो इस दस सालकी लड़कीसे भी वह बेहद डरता और कुंठित होता था। लोग कहते थे कि गफूर, तू इस बैलको खानेको नहीं दे पाता, इसे बेच डाल। गफूर आँसू बहाता हुआ धीरे-धीरे महेशकी पीठपर हाथ फेरकर कहता—महेश, तू मेरा बेटा है। तूने सात साल मेरा प्रतिपालन किया है। खानेको न पाकर तू कितना दुबला हो गया है। तुझे आज मैं क्या दूसरेके हाथमें दे सकता हूँ बेटा? इसी तरह जब दिन कटना नहीं चाहते थे, तब एक दिन अकस्मात् एक भीषण घटना हो गई। उस गाँवमें पानी भी सुलभ नहीं था। सूखे पोखरके बीच गढा खोदकर बहुत थोड़ा-सा पीनेका पानी बड़ी मुशकिलसे मिलता था। अमीना गरीब मुसलमानकी लड़की होनेके कारण, छू

जानेके डरसे, पोखरसे किनारे दूर पर खड़ी रहकर, पड़ोसकी औरतोंसे खुशामद करके माँग कर, बड़ी मुशकिलसे, बड़ी देरमें, अपना घड़ा भरकर घर लौट आई। इतनेमें भूखे-प्यासे महेशने उसे ढकेलकर घड़ा फोड़ दिया और एक साँसमें जमीनसे पानी सोखने लगा। लड़की रो उठी। ज्वरग्रस्त गफूरका प्याससे गला सूख रहा था। वह कोठरीसे बाहर निकल आया। यह दृश्य उसे बरदाश्त नहीं हुआ। हिताहितका ज्ञान उसे नहीं रहा। उसने सामने जो पाया—एक मोटी लकड़ी—वही उठाकर महेशके सिरपर जोरसे दे मारी। अनशनसे मुर्दा हो रहा बैल दो-एक बार हाथ पैर फड़फड़ा कर मर गया।

पड़ोसियोंने आकर कहा—हिंदुओंके गाँवमें गो-हत्या! जमींदारने तर्करत्न पंडितके पास इस पापके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था लेनेके लिए भेजा है। अबकी कहीं तुझे घर-द्वार न बेचना पड़े! गफूर दोनों घुटनोंके ऊपर मुँह रखकर चुपचाप बैठा रहा। उस समय महेशके शोकसे, पश्चात्तापसे उसका हृदय जला जा रहा था। बड़ी रात गये गफूरने लड़कीको उठाकर कहा—चल, हम लोग यहाँसे चलें।

लड़की आँगनके चबूतरेपर सो गई थी। आँखें मलकर बोली—कहाँ अब्बा? गफूरने कहा—पुलबेड़ाकी चटकलमें काम करने।

अमीना आश्चर्यके साथ बापका मुँह ताकती रही। इसके पहले बहुत दुःख और कष्टमें भी उसका बाप चटकलमें काम करनेके लिए राजी नहीं हुआ था। वह कहता था कि वहाँ धर्म नष्ट हो जाता है, औरतोंकी आबरू-इज्जतपर आँच आती है—वहाँ कभी नहीं जाऊँगा। किन्तु एकाएक यह क्या कह रहा है।

गफूरने कहा—देर न कर बेटी, चल। बहुत दूर चलना होगा। अमीना पानी पीनेका पात्र और बापके भात खानेकी पीतलकी थाली साथ ले रही थी; किन्तु बापने मना करके कहा—यह सब रहने दे बेटी, इनसे मेरे महेशका प्रायश्चित्त होगा।

इसके बाद कहानीके उपसंहारमें पुस्तकमें लिखा है—गहरी अँधेरी आधी रातको वह लड़कीका हाथ पकड़कर घरसे निकल पड़ा। इस गाँवमें उसका कोई

आत्मीय नहीं था, किसीसे कुछ कहनेको न था। आँगन पार होकर राहके किनारे उस बबूलके पेड़के तले आकर रुककर खड़े होकर वह जोरसे रो उठा। नक्षत्र-खचित काले आकाशकी ओर मुँह उठाकर उसने कहा—अल्लाह ! मुझे जितनी चाहे सजा देना, लकिन मेरा महेश प्यासा मरा है। उसके चरनेके लए जरा-सी जमीन किसीने नहीं छोड़ी। जिसने तुम्हारी दी हुई मैदानकी घास और तुम्हारा दिया हुआ प्यास बुझानेका पानी उसे खाने-पीने नहीं दिया, उसका कसूर तुम कभी माफ न करना।

यह हुई गोहत्या ! यह पढ़कर हिन्दूके लड़केके हृदयमें शूल बिंधेगा, इसलिए उसकी अपेक्षा वह 'प्रेमके ठाकुर' पढे। उससे यह लोक न सही, परलोकमें तो सद्गति होगी ! इन कान्तिमान् सुपरिपुष्ट प्रेमके ठाकुरसे पूछनेको जी चाहता है कि मुसलमान-सम्पादित पत्रमें इस कहानीकी जो कड़ी आलोचना निकली थी, उसका क्या कोई कारण नहीं है ? वह क्या एकदम मिथ्या और अमूलक है ?

इससे, मुझसे भी अवस्थामें बड़े व्यक्तिसे मैं सम्मानपूर्वक निवेदन किये रखता हूँ कि खूब बड़े होनेपर भी मनमें थोड़ी-सी विनय या नम्रता रहना अच्छा होता है। सोचना चाहिए कि उनकी लिखी कहानीके साथ बंगालके छात्र छात्रियोंका परिचय घटित न होनेपर भी विशेष कोई हानि नहीं थी। मैं Text Book (पाठ्य पुस्तकों) से पैसा नहीं पाता—यह मेरा रोजगार नहीं है—अतएव कोई हानि-लाभ भी नहीं है—तो भी इससे क्लेश होता है। अपने लिए नहीं, अन्य कारणसे। केवल सान्त्वना यही है कि अयोग्यके हाथमें भार पड़नेसे ही ऐसी दुर्दशा होती है। जिस व्यक्तिने कभी साहित्य साधना नहीं की, वह कैसे समझेगा कि किसके माने क्या है ! सुना है, उन्होंने मेरी 'रामकी सुमति' कहानीका थोड़ा-सा अंश दिया है। अत्यन्त दया हुई। जान पड़ता है, इससे रामों (हिंदू छात्र-छात्रियों) को सुमति होगी। लेकिन मुश्किल यह है कि देशमें रहीम लोग (मुसलमान छात्र-छात्री) भी हैं।

फिर केवल विद्यालय ही नहीं, 'महेश' के भाग्यमें अन्य दुर्घटना भी घटित हुई है। उसका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं देना चाहता, किन्तु मैं निःसंशय

जानता हूँ कि एक हिंदू जमींदारने आँखें लाल करके धमका कर कहा था कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डकी सहायतासे छपनेवाले मासिक या साप्ताहिक पत्रमें देखो, इस तरहकी कहानी अब न छापी जाय। इससे जमींदारके विरुद्ध प्रजाको भड़काया जाता है, अर्थात् देशका सर्वनाश होता है।

खैर, अपनी बात जाने देता हूँ।

फिर ऊपर कहे गये हिंदू मुरब्बियोंकी तरह मुसलमान मुरब्बी भी हैं। सुना है, वे इतिहासको फर्माइशके माफिक लिखनेका आदेश देते हैं। उनका मंशा है कि पाठ्य-पुस्तकोंमें कहीं इसका लेशमात्र भी जिक्र न रहे कि किसी इस्लाम-धर्मी व्यक्तिने कहीं अन्याय अविचार किया है। यहाँ भी सान्त्वना यह है कि इनमेंसे किसीने कभी साहित्यकी सेवा नहीं की। करते तो ऐसी बात कभी जबान पर न ला सकते। सच्चे साहित्यकारके हाथमें अगर यह काम करनेका भार पड़े तो मेरा विश्वास है कि न हिंदू और न मुसलमान, किसीकी ओरसे तनिक भी अभियोग न सुना जायगा। भाषाके प्रति, साहित्यके प्रति सच्चा दर्द उन्हें सत्य मार्गमें ही परिचालित करेगा।

वाजिदअली साहबने एक स्थान पर कहा है—'मुसलमानके इस नव-स्फूर्त आत्मप्रकाशने, इसलामी संस्कृतिके इस बलिष्ठ जागरणने साहित्य-क्षेत्रमें शरत्चन्द्रकी-सी शक्तिशालिनी प्रतिभाका ध्यान अपनी ओर खींचा, यह शायद देशके अनागत (भविष्य) कल्याणका एक शुभ संकेत है। किन्तु तो भी मन सन्देह, और अविश्वाससे, दुविधा और जिज्ञासासे क्यों डोल उठता है? बुलबुल (पत्रिका) में प्रकाशित उनके पत्रमें मुसलमानोंके प्रति उनकी सहानुभूतिका अभाव, प्रेमका अभाव और मोटे तौरपर एक अन्तर्दृष्टिका अभाव देख पड़ता है।"

मुझे पूछनेकी इच्छा होती है कि मुसलमानोंका यह 'नवीन स्फूर्त आत्म-प्रकाश,' इसलामी संस्कृतिका यह 'बलिष्ठ जागरण' किसका है? जो नवीन हैं, जो उदार बंगला भाषाको अकुंठित चित्तसे अपनी मातृभाषा स्वीकार करते हैं, उनका है, या जो पुरातन पंथी हैं, उनका? मेरा अभिमत यह है कि जो प्राचीनपंथी हैं, जो पीछेके सिवा आगे देखना नहीं जानते, उनका जागरण क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सभी समाजोंके लिए विघ्न-

स्वरूप है। हिन्दुओंके संबंधमें मैं यह बात बहुत बार बहुत जगह लिख चुका हूँ, मुसलिम समाजके सम्बंधमें भी निःसंशय होकर कह सकता हूँ कि यदि जागरण अगर नई पीढीका हो तो वह श्रावणकी पूनोंके ज्वारकी तरह सबको बहाता—डुबाता हुआ आवे, तो भी मैं दोनों हाथ उठाकर उसका स्वागत करूँगा। जानूँगा, इनके हाथसे सब कुछ शुभ और सुन्दर ही होगा—इनके हाथसे हिंदू मुसलमान किसीके भी अनिष्टका भय नहीं है, इनके हाथमें हम दोनों ही निरापद होंगे। मुझे केवल पुरातनपंथियोंके सम्बंधमें आशंका है।

वाजिदअली साहबने इसके बाद कहा है—"शरत्चन्द्र जैसे साहित्यकोंका सम्प्रदाय अथवा जाति एक है, दो नहीं, यह बात सहज ही हमारी स्वीकृतिका दावा कर सकती है। किन्तु और भी एक सहज बातकी ओर मैं उनकी दृष्टि आकृष्ट करता हूँ। वह यह कि साहित्य मनुष्यके मनकी सृष्टि है और मनुष्यके मनको तैयार करता है उसका धर्म, उसका समाज, उसके आसपासका वातावरण और उसकी संस्कृति। अपनेको इनसे अलग करना क्या साधारण बात है? और साधारणतः यह बात क्या संपूर्ण रूपसे संभव है?"

ये बातें केवल अंशिक सत्य हैं—सम्पूर्ण सत्य नहीं। कारण, स्थूलरूपसे इतना ही जान रखना जरूरी है कि मनुष्य जब साहित्यकी रचनामें निविष्ट-चित्त होता है, उस समय वह ठीक हिन्दू या ठीक मुसलमान नहीं होता। उस समय वह अपने सर्वजनपरिचित 'अहं' को बहुत दूर छोड़ जाता है, नहीं तो उसकी साहित्य-साधना व्यर्थ हो जाती है। इसी लिए जहाँ कुछ भी एक नहीं है, बाहरसे कुछ भी मेल नहीं बैठता, वहाँ भी मैक्सिम गोर्की जैसे साहित्यसेवक हमारे हृदयके भीतर बहुत कुछ आत्मीयका आसन ग्रहण कर बैठे रहते हैं। यह बात मैं सभी साहित्यिकोंसे याद रखनेके लिए कहता हूँ। किसीने कभी कहीं असावधानीके समय कोई बात कह डाली हो, तो वही उसके जीवनका परम सत्य नहीं हो जाती। केवल उसीको लेकर विचार नहीं किया जा सकता और इसीलिए वाजिदअली साहबने अपने लेखमें मेरे सम्बन्धमें जो सब कठिन उक्तियाँ की हैं, उनका जवाब मैं नहीं दूँगा। क्रोध जब शांत या कम होगा, तब आप ही उन्हें जान पड़ेगा कि मैंने सच बात ही कही थी। वाजिदअली साहबने सबसे अधिक हृदयविदारक बात यहाँपर कही है—"वास्तवमें दो

विषम अनात्मीय संस्कृतियोंके संघर्षका ही फल यह विक्षोभ है। इसके लिए आक्षेप या दुःख करना वृथा है। हिन्दू मुसलमानको नहीं समझता, इसलिए आज चारों ओर दुःखका विलाप गूँज रहा है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि उसके भारतीय धर्म, समाज और संस्कृतिने उसके मनको तंग बना दिया हो, दृष्टिको ढक लिया हो। अपने घेरेको नाँघकर वह चल नहीं सकता। जो अपने आभिजात्य या श्रेष्ठताके गर्वमें चिरकालसे डूबा हुआ है, पराजयका प्राचीन रोष जिसका आज भी दुर्जय है, विना युद्धके सुईकी नोक-भर स्थान देनेमें भी जिसकी आपत्तिका अंत नहीं है, उसकी बुद्धिको मुक्त कहना कठिन है। अथच, जो मुक्त नहीं है, वह नहीं चलता, चल नहीं सकता, वह जड़ है। इस आत्म-केन्द्रित, पर-विमुख जड़बुद्धिके परिवेष (घेरे) ने मुसलमानको अपनी वास-भूमिमें परवासी बना रक्खा है। भारतकी मिट्टीके रससे रसायित होकर भी उसका मन जैसे भीगता नहीं।"

यह जो कहा है कि दो विषम अनात्मीय संस्कृतियोंके फलसे यह विक्षोभ है, सो उसके लिए आक्षेप वृथा है। हम दोनों दोनोंके पड़ोसी हैं, हम लोगोंका आकाश, हवा, धरती, जल, एक ही है। मातृभाषाका एक होना भी हम स्वीकार करते हैं। तो भी संघर्ष इतना बड़ा कठोर है कि उसके लिए आक्षेप तक करना वृथा है—यही मनोभाव यदि सचमुच समस्त हिंदू-मुसलमानोंका हो, तो मैं यही कहूँगा कि मनुष्यकी इससे बढ़कर और दुर्गति नहीं हो सकती। मैं पूछता हूँ कि रवीन्द्रनाथकी बुद्धि भी क्या जड़-बुद्धि है? उनका मन मुक्त नहीं हुआ? यदि यह सत्य है तो वाजिदअली साहबकी यह भाषा कहाँसे आई? सहज सुन्दर ढंगसे अनायास अपने मनका भाव प्रकट करनेकी शक्ति उन्हें किसने दी? इस युगमें ऐसा लेखक, ऐसा साहित्यसेवी कौन है, जो प्रत्यक्ष या परोक्षमें रवीन्द्रनाथका ऋणी नहीं है? साहित्य धर्म-पुस्तक नहीं है, नीति सिखानेकी पोथी भी नहीं है। उसने अपनी विशाल परिधिके भीतर अपने माधुर्यसे सब कुछको ही अपना कर रक्खा है। इसीसे किसीने आज भी इसका सत्य निर्देश नहीं पाया कि साहित्य क्या है, रस-वस्तु क्या है। इस विषयमें कितने ही तर्क, कितना ही मतभेद है। इस अवांछित व्यवधानके संबंधमें मिजातुर रहमान साहबने बुलबुल मासिक पत्रकी ज्येष्ठ-संख्यामें अपने

लेखमें एक जगह निष्करुण होकर कहा है कि "शरत् बाबूने अपने ढेरके ढेर उपन्यासोंके भीतर जगह-जगह मुसलमान-समाजके जो सब चित्र अंकित किये हैं, वे मुसलमान-समाजके खूब ऊँचे दर्जेके लोगोंके नहीं हैं।" किन्तु मैं पूछता हूँ, ऊँचे-नीचे दर्जेके पात्र-पात्रियोंके ऊपर ही क्या उपन्यासकी उच्चता नीचता, भला-बुरा निर्भर करता है? अगर यही उनका अभिमत हो, तो मेरे साथ उनका मत मेल न खायगा। न मेल खाय, किन्तु उपसहारमें जो उन्होंने कहा है कि "शरत्चन्द्रने हिन्दू-समाजके विविध दोषों और समस्याओंको लेकर जो सब कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं और प्रतिकारके उद्देश्यसे अपने समाजको जो चाबुक मारे हैं, उन सदिच्छा प्रणोदित निर्मम कशाघातोंको भी मुसलिम समाज अम्लानवदन होकर ग्रहण करेगा—यह मैं जोर देकर कह सकता हूँ। मैं बगालके कथा-साहित्य सम्राट्से एक बार परीक्षा करके देखनेका अनुरोध करता हूँ।"

उस दिन जगन्नाथ हालमें अपने अभिनन्दनके प्रतिभाषणमें इस बातका उत्तर मैंने दिया है। हार्दिक शुभकामनाको ये लोग कैसे ग्रहण करते हैं यह, इस ससारसे विदा होनेके पहले मैं देख जाऊँगा। खैर, वह चाहे जो हो, मनुष्य केवल अपनी इच्छा ही प्रकट कर सकता है, किन्तु उसके परिपूर्ण होनेका भार और एक जनके ऊपर रहता है, जो वाक्य और मनके अगोचर है। उस दिन भोजन करते समय हिज एक्सेलेंसी (गवर्नर) ने मुझसे यही प्रश्न किया था। मैंने उत्तर दिया था कि मैं दोनों समाजोंके आशीर्वादके साथ अपने इरादेको कार्यरूपमें परिणत करना चाहता हूँ। ठीक समाजोंका नहीं, चाहता हूँ दोनो समाजोंके साहित्यसेवकोंका आशीर्वाद। जिस भाषामें जिस साहित्यकी इतने दिन तक सेवा की है, उसके ऊपर अकारण अनाचार मुझसे सहा नहीं जाता। मेरे मनमें पूर्ण विश्वास है कि मेरी तरह जिन्होंने साहित्यकी यथार्थ साधना की है, वे हिन्दू या मुसलमान जो भी हों, किसीसे यह अनाचार सहा नहीं जायगा। सौन्दर्य और माधुर्यके लिए अगर कुछ परिवर्तनका प्रयोजन हो—ऐसा तो कितनी ही बार हुआ है—तो वह काम धीरे धीरे ये ही लोग करेंगे, और कोई नहीं। वह हिंदूपनके कल्याणके लिए नहीं, मुसलमानियतके भी कल्याणके लिए नहीं, केवल मातृभाषा और साहित्यके कल्याणके लिए ही। साधारणत: यही मेरी एकमात्र प्रार्थना है।

मैंने कहाँ किस रचनामें मुसलिम समाजके प्रति अविचार किया है—मेरी धारणा तो यही है कि मैंने नहीं किया—बालकी खाल निकालनेवाला इसका वाद-प्रतिवाद प्रतिकारका रास्ता नहीं है; वह तो कलह-विवादकी एक और नई राह तैयार करना है।

प्रयोजन जानकर मैंने 'बुलबुल' के अनेक उद्धरण दिये हैं। मैं इस पत्रिकाकी अनवरत अखंड उन्नतिकी कामना करता हूँ। कारण, मैंने इसको जितना कुछ पढ़ा है, उससे मुझे मालूम हुआ है कि इसके सपादक और लेखक साहित्यकी उन्नति ही चाहते हैं और मेरी भी यही कामना है। हो सकता है, उन्होंने कहीं कुछ कटूक्ति की हो, किन्तु वह याद रखनेकी चीज नहीं है, भूल जानेकी चीज है।

किन्तु बस। कहनेके विषय अभी और अनेक थे, लेकिन आप लोगोंके धैर्यके प्रति सचमुच मैंने अत्याचार किया है। इसके लिए क्षमा प्रार्थना करता हूँ। मेरे इस अभिभाषणमें पाण्डित्य नहीं है, कारीगरी नहीं है, कहनेकी बातें केवल सीधेसादे ढगसे कह गया हूँ, जिसमें किसीको मेरा मतलब समझनेमें कोई कठिनाई न हो और सुननेके बाद कोई यह न कहे कि जैसी अतुलनीय शब्दसम्पत् है, वैसी ही कारीगरी; किन्तु ठीक क्या कहा गया, सो अच्छी तरह समझमें नहीं आया।

बंगला-साहित्यकी सेवा करके मुसलमानोंमें जो चिरस्मरणीय हो रहे हैं, उनके प्रति मेरी असीम श्रद्धा है, तो भी उनके नामोंका उल्लेख मैं नहीं करता।

अन्तमें कृतज्ञता प्रकट करनेकी एक रीति है, जैसे आरभ करते समय विनय प्रकट करनेकी प्रथा। पहलेकी प्रथाका पालन मैंने नहीं किया। कारण, साहित्य-सभाओंके सभापतिका काम इतना अधिक करना पड़ा है कि मुझे जान पड़ता है, इस साठ वर्षकी अवस्थामें अपने नामके साथ अनुपयुक्त, बेवकूफ इत्यादि विशेषण ठीक शोभा न देंगे। किन्तु कृतज्ञता प्रकट करनेके समय यह बात नहीं है। मुसलिम समाजके समस्त विद्वानोंके निकट आज मैं अकपट चित्तसे कृतज्ञता निवेदन करता हूँ। आप लोग मेरा सलाम ग्रहण करें। कहनेके दोषसे अगर

मैंने किसीका जी दुखाया हो तो वह मेरी भाषाकी त्रुटि है, मेरे अन्तःकरणका अपराध नहीं। इति। *

साहित्यिक सम्मिलनका उद्देश्य

आप लोग यहाँ अनेक स्थानोंसे आये हैं। आनेपर हम लोगोंका आपसमें परस्पर देखना-भालना हुआ, आलाप-परिचय हुआ। पहले मैं जिन सभा-समितियोंमें सम्मिलित हुआ हूँ, यही अफसोस किया है कि सभामें सम्मिलित तो अवश्य हुआ, लेकिन आपसमें आलाप-परिचय नहीं हुआ। यह एक ऊँचे दर्जेकी साहित्य सभा है। साहित्य मेरा पेशा है, जीविका भी यही है। यह काम शुरू करके मैं कितना क्या कर पाया हूँ या नहीं कर पाया हूँ, यह आप पाँच जने ही जानते हैं।

आप लोग मुझसे भाषण करनेके लिए कहते हैं। पहले तो मैं बोल नहीं पाता, अच्छी आवाज भी नहीं है। कहनेके लिए बात भी ढूँढे नहीं पाता, तो भी आप लोग समझते हैं कि कुछ काम हुआ है, और मेरा आत्म-विश्वास कहिए चाहे आत्माभिमान ही कहिए, मैं समझता हूँ कि मैंने इसकी चेष्टा की है।

साहित्यके मामलेमें शुरूसे ही मैंने कहा है और चाहा है कि मैं कभी मिथ्याका आश्रय न लूँ। यह अवश्य है कि सत्य वस्तु ही साहित्य नहीं है। संसारमें अनेक बातें ऐसी हैं जो सत्य हैं किन्तु साहित्य नहीं हैं। मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि सत्य बुनियादकी तरह मिट्टीके नीचे रहे, तो उसके ऊपर कल्पनासे जो महल उठाया जायगा, वह सहजमें धँस न जायगा। अपने जीवनमें यह मैंने कई बार देखा है। मेरा लिखा पढकर अनेक लोगोंने कहा कि 'यह बड़ा अस्वाभाविक है'। पाँच आदमियोंने पाँच तरहसे और भी

---

* ढाकामें १५ श्रावण सन् १३४३ के दिन मुसलिम-साहित्य-समाजके दशम वार्षिक अधिवेशनमें दिया गया सभापतिका अभिभाषण। 'विचित्रा' पत्रिकाके सन् १३४३ (बँगला) की भाद्र-संख्यामें प्रकाशित।

कितनी ही बातें कहीं । मेरा वह लिखा यदि सच्चे ज्ञानके ऊपर खड़ा न हो, तो संशय होता है कि पाँच जन जब कहते हैं, तब उसे बदल दूँ । किन्तु मनुष्य भूल करे और चाहे जो करे —जब मैं जानता हूँ कि बुनियाद सत्यके ऊपर है, तब मनमें कोई संशय नहीं आता कि उसे बदल दूँ । इसीलिए मेरे लिखनेमें जो होता है, वह एकदम ही हो जाता है, बादको उसमें काट कूट मैं नहीं करता ।

आप लोगोंमेंसे जिसे जिस जगह सन्देह है, पूछिए, मैं उसका उत्तर दूँ । उससे साहित्यिक सम्मेलनका जो बड़ा उद्देश्य है, उसकी सार्थकता होगी । यह जो rigidity (कठोरताका) भाव है, इसे थोड़ा-सा बदलनेकी जरूरत है । अनेक लोग साहित्य-सभामे सम्मिलित होते हैं; किन्तु वहाँसे चले जानेके समय मनमें सोचते हैं कि इतना खर्च करके यह जो इतनी दूरसे हम आये; सो हमने ऐसा क्या बड़ा काम किया । लेख-निबंध जो पढे जाते हैं, उनका बारह आना भाग लोग सुनते ही नहीं, और अगर सुनते भी हैं तो उसी समय भूल जाते हैं ।

इसीसे मैं कहता था कि अगर कोई मेरे साथ परिचय करना चाहे, अगर कुछ संशय हो, तो आइए, बातचीत और मिल-जुल करके उसकी आलोचना करें । यही आजकी संध्याका अनुष्ठान है ।*

आशुतोष-कालेजकी वक्तृता

आजकल जो साहित्य-सम्मेलन होते हैं, प्रायः ही देखता हूँ कि उन सब अनुष्ठानोंमें अति आधुनिक साहित्यकी खूब ही निंदा होती है । मैं अति आधुनिक साहित्यकी प्रशंसा ही करता हूँ, यह बात नहीं है । मेरा वक्तव्य यह है कि इस तरहकी आलोचना न होना ही अच्छा है । कारण, इस तरह लिखना उचित है या इस तरह लिखना उचित नहीं है—यह कहनेसे कोई

* कलकत्तेमें हुए प्रवासी-बंग-साहित्य-सम्मेलनमें दी गई वक्तृताका एक अंग, जो ४ माघ सन् १३३१ के 'वातायन' पत्रमें प्रकाशित हुआ ।

विशेष लाभ नहीं होता। जिसकी जैसी शिक्षा है, जिसकी जैसी दृष्टि है, जिसकी जैसी शक्ति है, जिसकी जैसी रुचि है, वह उसीके अनुपातसे साहित्यकी रचना करता है। इस सब साहित्यमेंसे जो रहनेका है वह रहेगा और जो नहीं रहनेका है वह लुप्त हो जायगा।

साहित्य युगके धर्मसे बनता है—समालोचना या सहयोगिताके द्वारा नहीं गढ़ा जाता। सभी चीजोंकी एक क्रमोन्नति है, केवल साहित्यके मामलेमें ही यह बात नहीं है। कालिदासके बाद शकुन्तलाको यदि और भी अच्छा बनानेकी शक्ति रहती, तो जितने लोगोंने उसे पढ़ा है, जितने लोगोंने अनुकरण किया है, जितने लोगोंने उसे अच्छा कहा है—वे शकुन्तलासे उत्कृष्टतर किसी नाटककी रचना कर सकते। किन्तु यह नहीं हुआ। महाकवि कालिदास जो लिख गये हैं, वही बड़ा बना हुआ है। रवीन्द्रनाथका अनुकरण करके अनेक लोगोंने बहुत कुछ लिखा है। किन्तु रवीन्द्रनाथकी रचना और अनुकरणमें जमीन आसमानका अन्तर है।

लोग शायद कह सकते हैं कि मैं नये साहित्यके सबधमें विरुद्ध मत रखता हूँ, किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। मैं समयके ऊपर भरोसा करके बैठा हूँ। मैंने जो लिखा है, उसका अगर कोई मूल्य है तो भविष्यमें वह टिका रहेगा, और अगर टिकने योग्य न होगा तो झड़ जायगा। मनुष्यके भला या बुरा लगनेके ऊपर कोई साहित्य निर्भर नहीं रहता। वह अपने प्रयोजनसे आप ही उतर जाता है। परवर्त्ती कालमें मनुष्य यदि उसे समाजके भीतर, जीवनमें प्रयोजनीय न समझेगा तो फिर वह नहीं रहेगा। अतएव इस तरहकी आलोचनासे कोई लाभ नहीं है। उससे साहित्यिकोंके बीच केवल ईर्ष्या द्वेषका भाव पैदा होता है। फर्माइश देकर साहित्यकी सृष्टि नहीं होती। इसकी अपेक्षा यह कहना अच्छा है कि तुम्हारी शुभबुद्धिके ऊपर हम भरोसा किये रहेंगे। अपनी बुद्धि और विद्या द्वारा वही करो, जिससे बगला साहित्य बड़ा और उन्नत हो उठे। *

---

* आशुतोष-कालेजमें बंग-साहित्य सम्मेलनके द्वितीय वार्षिक उत्सवमें, २१ फाल्गुन सन् १३४२ के दिन दी गई मौखिक वक्तृता।

भाग्य-विडंबित लेखक

उस दिन मैंने गिनकर देखा कि जो सच्ची साधनामें लगे हैं, साहित्य जिनके लिए एक विलासकी सामग्री नहीं है, साहित्य जिनके जीवनका एकमात्र व्रत है, ऐसे लोग बंगालमें हैं ही कितने, वे तो उंगलियोंपर गिने जा सकते हैं।

ये सब साहित्यसेवी अथक परिश्रम करके अनाहार अनिद्रामें देशके लिए, दस आदमियोंके लिए, साहित्यकी सृष्टि करते हैं। सुना है, शायद वह साहित्य जनसमाजका कल्याण करता है! लेकिन हम उसका क्या मूल्य देते हैं?

ये जो सब साहित्यिक देशके लिए प्राण-पण किये हुए हैं, उनको पुरस्कारमें क्या मिला है—केवल लांछना और गरीबी। प्रचुर धन-सम्पत्ति कमाकर वे वित्तशाली धनवान् नहीं होना चाहते, वे चाहते हैं केवल थोड़ा सा स्वच्छंद जीवन, सर्वनाशी दारिद्र्यके दारुण अभिशापसे छुटकारा, वे चाहते हैं केवल निश्चिन्त निर्भावनाके साथ लिखनेके लायक थोड़ा सा अनुकूल वातावरण। परन्तु, वे वह भी नहीं पाते। जीवन-भर केवल भाग्यकी विडंबना सहते ही उन्हें दिन काटने पड़ते हैं; और जिनके कल्याणकी कामनामें उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया, वे एक बार उधर घूमकर दृष्टिपात भी नहीं करते।

देशके लोग उन्हें देते कुछ नहीं, अथच उनसे चाहते बहुत कुछ हैं। कहीं किसीने अगर जरा-सा खराब लिख दिया, तो सुतीव्र समालोचनाके विषसे और निन्दाकी तीव्र बाण-वर्षासे उसे जर्जरित होना पड़ता है।

इन अतिनिन्दित कहानी-लेखकोंके दैन्य दारिद्र्यकी कोई हद नहीं है। यह सच है; इनकी रचनाएँ पढकर जनसाधारण आनन्द प्राप्त करते हैं— किन्तु उनके घरकी खबर लेने जाइए तो देख पाइएगा कि ये कितने निःस्व, कितने असहाय हैं। बहुतोंके ही उपन्यासोंका शायद दूसरा संस्करण भी नहीं होता।

किन्तु क्यों?

इसका एकमात्र कारण यह है कि हमारे देशके लोग पुस्तकें पढ़ते अवश्य

हैं, किन्तु पैसा खर्च करके खरीद कर नहीं पढ़ते। ऐसी बात शायद उठ सकती है कि हमारे देशके जनसाधारण निर्धन हैं, उनमें पुस्तक खरीदनेका सामर्थ्य नहीं है। किन्तु जिनके सामर्थ्य है, ऐसे अनेक बड़े लोगोंके घर मैं खुद गया हूँ। जाकर देखा है, उनके यहाँ और सभी कुछ है, घर है, विलास-व्यसनकी हजारों सामग्री हैं, नहीं हैं तो केवल पुस्तकें। पैसा खर्च करके किताबें खरीदना उनमेंसे बहुतोंकी समझमें अपव्ययके सिवा और कुछ नहीं है।

अथच, कहानी-लेखकके विरुद्ध अभियोगका अन्त नहीं है। वे अच्छी पुस्तकें नहीं लिखते। मुझसे अगर कोई प्रश्न करे कि क्यों नहीं लिखते, तो मैं कहूँगा कि जिनमें शक्ति है, वे आज धनके अभावसे, दारिद्रकी मारसे ऐसे पिस गये हैं कि अच्छा लिखनेकी इच्छा रहनेपर भी उनको न अवसर प्राप्त है और न उनका जी ही चाहता है।

इसका प्रतिकार सबसे पहले होना चाहिए। सबसे पहले हमारे देशके साहित्यिकोंका अभाव दूर करनेकी—उनकी जरूरतें पूरी करनेकी—व्यवस्था करनी होगी, जिससे वे अच्छा लिख सकें, उसके अनुकूल वातावरणकी सृष्टि करनी होगी। तभी बंगला साहित्य जीवित रहेगा, नहीं तो अचिर भविष्यमें उसकी क्या दशा होगी, यह भगवान् ही जानते हैं।

हमारे देशके बड़े लोग कमसे कम कर्त्तव्यकी खातिर भी अगर एक-एक पुस्तक खरीदें तो शायद इसके प्रतिकारकी कुछ व्यवस्था हो सकती है। और किताब न खरीदकर भी वे अनेक प्रकारसे सहायता करके बंगला-साहित्यको समृद्ध बना सकते हैं। किन्तु यह क्या वे करेंगे?

पहलेके जमानेमें बड़े बड़े राजे-रजवाड़े सभा-कवि रखकर, कवियों और साहित्यिकोंकी वृत्ति बाँधकर, अनेक प्रकारसे देशके साहित्यको बढ़ा और उन्नत होनेका सुयोग देते थे। आजकल वह भी नहीं है।

शौकिया साहित्यकोंकी बात मैं नहीं कहता। भगवान्की कृपासे जिनके पास अन्न-वस्त्रका ठिकाना है, साहित्य जिनकी विलासकी सामग्री है, उनकी बात जुदी है। वे शायद कहेंगे कि अन्न-चिन्ता वल्गर (छोटी बात) है, अतएव उससे साहित्यकी श्री नष्ट होगी; वह चिन्ता बादको भी की जा सकती है।

बादको चिन्ता करनेसे जिनका काम चलता है, वे वहीं करें। मैं केवल

उन सब भाग्यहीनोंकी ही बात कहता हूँ, जिनकी अस्थिमज्जामें साहित्यके प्रति उग्र विषकी क्रिया आरंभ हो गई है, साहित्यकी सृष्टिमें जिनका जन्म-गत अधिकार है, जिनके खूनमें सृष्टिकी उन्मादना है। मैं जानता हूँ कि ये सब हजारों उन्मत्त पागल दारिद्र्यकी लाछनाओंके बीच बैठकर भी लिखेंगे। न लिखनेसे वे जीवित न रहेंगे। इससे जितने दिन वे जीवित रहें, उनके मुँहमें दो मुट्ठी अन्न डाल देना चाहिए। इन सब पराये लिए उत्सर्ग किये हुए जीवनोंकी शिखा यदि अन्नके अभावसे बुझ जाय तो उससे देशका कल्याण न होगा, यह आज आप लोग जान रक्खें।*

बंगला पुस्तकोंका दुःख

कुमार मुनीन्द्रदेव राय महाशयकी वक्तृता सुनकर और कुछ हो या न हो, कमसे कम एक उपकार हम लोगोंका हुआ है। योरपकी लाइब्रेरियोंके संबंधमें उन्होंने जो कुछ कहा, उसकी बहुत सी बातें शायद हमें याद नहीं रहेंगी; किन्तु आज उनकी वक्तृता सुनकर हमारे मनमें एक आकुलता पैदा हो गई है। योरपके ग्रन्थागारोंकी दशा जैसी उन्नत है, वैसी दशा हमारे देशमें कब होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। तो भी जितना कुछ होना संभव है, उसके लिए हमें चेष्टा करनी चाहिए। चारों ओरसे यह अभियोग सुनाई पड़ता है कि "हम लोगोंके पुस्तकालयोंमें अच्छी पुस्तकें नहीं, हैं केवल निकम्मे उपन्यास। हमारे लेखक ज्ञानसे भरी पुस्तकें नहीं लिखते। वे केवल उपन्यास-कहानी ही लिखते हैं।" किन्तु वे लिखेंगे कहाँसे? इन अतिनिन्दित उपन्यास-कहानी लेखकोंके दैन्य-दारिद्र्यकी सीमा नहीं है। बहुतोंके ही उपन्यासोंके दुबारा छपनेकी नौबत नहीं आती। जो कुछ लाभ होता भी है, वह किसके पेटमें समा जाता है, यह न कहना ही अच्छा। शायद बहुत लोगोंको इसकी धारणा ही नहीं है कि ये सब लेखक कितने निःस्व, कितने असहाय हैं।

---

* वास्तवमें यह लेख पहले बंगला सन् १३४२ के भादों या आश्विनमें 'शनिवारेर चिठी' पत्रमें प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 'मोअज्जिन' नामके मासिकपत्रमें इसे स्थान मिला—ऐसा जान पड़ता है।

किन्तु विलायतमें उपन्यास-कहानी लिखनेवालोंकी दशा और प्रकारकी है। वे धनी हैं। उनमेंके एक-एक आदमीकी आमदनी इतनी है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। थोड़े ही समयके भीतर उनकी पुस्तकोंके संस्करणपर संस्करण होते हैं। कारण, उस देशमें कमसे कम सामाजिकताके खयालसे भी लोग पुस्तकें खरीदते हैं। किन्तु हमारे देशमें यह झंझट नहीं है। उस देशमें घरमें लाइब्रेरी रखना एक आभिजात्यका परिचय या लक्षण है। सभी शिक्षित लोगोंको पुस्तकें खरीदनेका अभ्यास है। न खरीदनेसे निन्दा होती है—शायद कर्त्तव्यमें भी त्रुटि होती है। फिर अच्छी हैसियतके लोगोंकी तो बात ही जुदा है। उनमेंसे हर एकके ही घरमें एक-एक बड़ा पुस्तकालय है। पढ़नेवाले हों चाहे न हों, पुस्तकालय रखना ही जैसे एक सामाजिक कर्त्तव्य है। किन्तु हम अभागी जातिके हैं। हमारे शिक्षित लोगोंके बीच भी पुस्तकोंका प्रचलन नहीं है। बहुतसे लोग तो शायद मासिक पत्रिकाओंके पृष्ठोंसे समालोचनाके बहाने केवल गाली-गलौजके उपकरण ही सग्रह करते हैं। अगर पता लगाइए तो देख पाइएगा कि उनमेंसे बहुतोंने ही मूल पुस्तक नहीं पढी। मैं खुद भी एक साहित्य-व्यवसायी हूँ। विभिन्न स्थानोंसे मेरी पुकार होती है। अनेक बड़े बड़े लोगोंके घर जाना पड़ता है। पता लगाकर देखा है, उनके सभी कुछ है—नहीं है तो केवल पुस्तकालय। पुस्तक खरीदना उनमेंसे बहुतोंकी दृष्टिमें ही अपव्ययके सिवा और कुछ नहीं है। जिनके यहाँ पुस्तकालय है भी, तो वे कई एक चटकीली-रगीन सुनहली जिल्दकी किताबें बाहरकी [illegible] ये रखते हैं। लेकिन बगलाकी [illegible]कें बिल्कुल ही नहीं खरीदते

उनके संबंधमें आलोचना करनेमें कभी किसीमें विद्या और बुद्धिका अभाव नहीं जान पड़ता।

कहानी-उपन्यास लिखनेवालोंके विरुद्ध अभियोग करनेसे क्या होगा? रुपयोंके अभावसे कितनी बड़ी-बड़ी कल्पनायें कितनी बड़ी-बड़ी प्रतिभायें नष्ट हो जाती हैं, इसकी खबर कौन रखता है? जवानीमें मेरी एक कल्पना थी—एक उच्च आशा थी कि 'द्वादश मूल्य' नाम देकर मैं एक पुस्तक-माला तैयार करूँगा। जैसे—सत्यका मूल्य, मिथ्याका मूल्य, मृत्युका मूल्य, दुःखका मूल्य, नरका मूल्य, नारीका मूल्य—इसी तरह मूल्यका विचार उसमें होगा। उसीकी भूमिका स्वरूप उन दिनों मैंने 'नारीका मूल्य' * लिखा था। वह बहुत दिन तक अप्रकाशित पड़ा रहा। बादको 'यमुना' पत्रिकामें प्रकाशित अवश्य हुआ, किन्तु फिर वह 'द्वादश मूल्य' नहीं लिख सका। उसका कारण धनका अभाव ही था। मेरे जमींदारी नहीं है, रुपये नहीं हैं। यहाँतक कि उन दिनों दो वेला भोजन जुटानेके लिए भी पैसे नहीं थे। प्रकाशकोंने उपदेश दिया कि यह सब नहीं चलेगा। तुम इसकी अपेक्षा किसी तरह जोड़जाड़कर दो चार कहानियाँ लिख दो—उनकी हजार कापियाँ बिक जायँगी। हमारी जातिकी विशेषता कहिए या दुर्भाग्य ही कहिए, पुस्तक खरीदकर हम लेखकोंकी सहायता नहीं करते। यहाँ तक कि जो मालदार हैं, खरीद सकते हैं, वे भी नहीं करते। बल्कि अभियोग करते हैं कि कहानी-उपन्यास लिखकर क्या होगा? अथच, आज अन्तःपुरमें जो थोड़ा बहुत स्त्री-शिक्षाका प्रचार हुआ है, वह इन कहानी-उपन्यासोंके ही द्वारा।

कितने ही बड़े-बड़े कवि उत्साहके अभावसे नाम नहीं कर पाये। परलोकगत सत्येन्द्र दत्तके शोक-दिवसमें जाकर देखा था कि बहुत-से लोग सचमुच रो रहे हैं। तब अत्यन्त क्षोभके साथ मैंने कहा था—कड़ी बात कहनेका मुझे अभ्यास है, ऐसे क्षेत्रमें बीच बीचमें कड़ी बातें कहता भी रहता हूँ—उस दिन मैंने कहा था कि इस समय आप लोग रोकर आँसुओंकी धारा बहा रहे हैं; लेकिन क्या आपको मालूम है कि बारह वर्षमें उनकी पाँच सौ पुस्तकें भी नहीं बिकीं? मैं

* देखिए शरत्-साहित्य भाग १५।

किन्तु विलायतमें उपन्यास-कहानी लिखनेवालोंकी दशा और प्रकारकी है। वे धनी हैं। उनमेंके एक-एक आदमीकी आमदनी इतनी है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। थोड़े ही समयके भीतर उनकी पुस्तकोंके संस्करणपर संस्करण होते हैं। कारण, उस देशमें कमसे कम सामाजिकताके खयालसे भी लोग पुस्तकें खरीदते हैं। किन्तु हमारे देशमें यह झक्षट नहीं है। उस देशमें घरमें लाइब्रेरी रखना एक आभिजात्यका परिचय या लक्षण है। सभी शिक्षित लोगोंको पुस्तकें खरीदनेका अभ्यास है। न खरीदनेसे निन्दा होती है—शायद कर्त्तव्यमें भी त्रुटि होती है। फिर अच्छी हैसियतके लोगोंकी तो बात ही जुदा है। उनमेंसे हर एकके ही घरमें एक-एक बड़ा पुस्तकालय है। पढनेवाले हों चाहे न हों, पुस्तकालय रखना ही जैसे एक सामाजिक कर्त्तव्य है। किन्तु हम अभागी जातिके हैं। हमारे शिक्षित लोगोंके बीच भी पुस्तकोंका प्रचलन नहीं है। बहुतसे लोग तो शायद मासिक पत्रिकाओंके पृष्ठोंसे समालोचनाके बहाने केवल गाली-गलौजके उपकरण ही सग्रह करते हैं। अगर पता लगाइए तो देख पाइएगा कि उनमेंसे बहुतोंने ही मूल पुस्तक नहीं पढी। मैं खुद भी एक साहित्य व्यवसायी हूँ। विभिन्न स्थानोंसे मेरी पुकार होती है। अनेक बड़े बड़े लोगोंके घर जाना पड़ता है। पता लगाकर देखा है, उनके सभी कुछ है—नहीं है तो केवल पुस्तकालय। पुस्तक खरीदना उनमेंसे बहुतोंकी दृष्टिमें ही अपव्ययके सिवा और कुछ नहीं है। जिनके यहाँ पुस्तकालय है भी तो वे कई एक चटकीली-रगीन सुनहली जिल्दकी कितावें बाहरकी बैठकमें सजाये रखते हैं। लेकिन बगलाकी पुस्तकें बिल्कुल ही नहीं खरीदते।

इसीसे बगालमें—जिसे आप ज्ञानगर्भ पुस्तक कहते हैं—नहीं होती, और इसीसे प्रकाशक लोग छापना नहीं चाहते। वे कहते हैं—इन सबकी कोई मॉग नहीं है, ले आओ उपन्यास कहानी। लोग सोचते हैं, कहानी या उपन्यास लिखना बहुत ही सरल सहज है। मोहल्लेके शुभचिन्तक लोग जैसे अक्षम आत्मीयको परामर्श देते हैं कि तुझसे और कुछ न होगा, जा, होमियोपैथीका धधा कर। अथच, होमियोपैथी चिकित्साके समान कठिन काम कम ही हैं। इसका कारण यह है कि जो चीज सबसे कठिन है, उसीको बहुत लोग सबसे सहज समझ लेते हैं। जैसे भगवान्‌के संबंधमें बातें कहते लोगोंको देखता हूँ।

उनके संबंधमें आलोचना करनेमें कभी किसीमें विद्या और बुद्धिका अभाव नहीं जान पड़ता।

कहानी-उपन्यास लिखनेवालोंके विरुद्ध अभियोग करनेसे क्या होगा? रुपयोंके अभावसे कितनी बड़ी-बड़ी कल्पनायें कितनी बड़ी-बड़ी प्रतिभायें नष्ट हो जाती हैं, इसकी खबर कौन रखता है? जवानीमें मेरी एक कल्पना थी—एक उच्च आशा थी कि 'द्वादश मूल्य' नाम देकर मैं एक पुस्तक-माला तैयार करूँगा। जैसे—सत्यका मूल्य, मिथ्याका मूल्य, मृत्युका मूल्य, दुःखका मूल्य, नरका मूल्य, नारीका मूल्य—इसी तरह मूल्यका विचार उसमें होगा। उसीकी भूमिका स्वरूप उन दिनों मैंने 'नारीका मूल्य' * लिखा था। वह बहुत दिन तक अप्रकाशित पड़ा रहा। बादको 'यमुना' पत्रिकामें प्रकाशित अवश्य हुआ, किन्तु फिर वह 'द्वादश मूल्य' नहीं लिख सका। उसका कारण धनका अभाव ही था। मेरे जमींदारी नहीं है, रुपये नहीं हैं। यहाँतक कि उन दिनों दो वेला भोजन जुटानेके लिए भी पैसे नहीं थे। प्रकाशकोंने उपदेश दिया कि यह सब नहीं चलेगा। तुम इसकी अपेक्षा किसी तरह जोड़जाड़कर दो चार कहानियाँ लिख दो—उनकी हजार कापियाँ बिक जायँगी। हमारी जातिकी विशेषता कहिए या दुर्भाग्य ही कहिए, पुस्तक खरीदकर हम लेखकोंकी सहायता नहीं करते। यहाँ तक कि जो मालदार हैं, खरीद सकते हैं, वे भी नहीं करते। बल्कि अभियोग करते हैं कि कहानी-उपन्यास लिखकर क्या होगा? अथच, आज अन्तःपुरमें जो थोड़ा बहुत स्त्री-शिक्षाका प्रचार हुआ है, वह इन कहानी-उपन्यासोंके ही द्वारा।

कितने ही बड़े-बड़े कवि उत्साहके अभावसे नाम नहीं कर पाये। परलोकगत सत्येन्द्र दत्तके शोक-दिवसमें जाकर देखा था कि बहुत-से लोग सचमुच रो रहे हैं। तब अत्यन्त क्षोभके साथ मैंने कहा था—कड़ी बात कहनेका मुझे अभ्यास है, ऐसे क्षेत्रमें बीच बीचमें कडी बातें कहता भी रहता हूँ—उस दिन मैंने कहा था कि इस समय आप लोग रोकर आँसुओंकी धारा बहा रहे हैं; लेकिन क्या आपको मालूम है कि बारह वर्षमें उनकी पाँच सौ पुस्तकें भी नहीं बिकीं? मैं

* देखिए शरत्-साहित्य भाग १५।

किन्तु विलायतमें उपन्यास-कहानी लिखनेवालोंकी दशा और प्रकारकी है। वे धनी हैं। उनमेंके एक-एक आदमीकी आमदनी इतनी है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। थोड़े ही समयके भीतर उनकी पुस्तकोंके संस्करणपर सस्करण होते हैं। कारण, उस देशमें कमसे कम सामाजिकताके खयालसे भी लोग पुस्तकें खरीदते हैं। किन्तु हमारे देशमें यह झंझट नहीं है। उस देशमें घरमें लाइब्रेरी रखना एक आभिजात्यका परिचय या लक्षण है। सभी शिक्षित लोगोंको पुस्तकें खरीदनेका अभ्यास है। न खरीदनेसे निन्दा होती है—शायद कर्त्तव्यमें भी त्रुटि होती है। फिर अच्छी हैसियतके लोगोंकी तो बात ही जुदा है। उनमेंसे हर एकके ही घरमें एक-एक बड़ा पुस्तकालय है। पढनेवाले हों चाहे न हों, पुस्तकालय रखना ही जैसे एक सामाजिक कर्त्तव्य है। किन्तु हम अभागी जातिके हैं। हमारे शिक्षित लोगोंके बीच भी पुस्तकोंका प्रचलन नहीं है। बहुतसे लोग तो शायद मासिक पत्रिकाओंके पृष्ठोंसे समालोचनाके बहाने केवल गाली-गलौजके उपकरण ही सग्रह करते हैं। अगर पता लगाइए तो देख पाइएगा कि उनमेंसे बहुतोंने ही मूल पुस्तक नहीं पढी। मैं खुद भी एक साहित्य व्यवसायी हूँ। विभिन्न स्थानोंसे मेरी पुकार होती है। अनेक बड़े बड़े लोगोंके घर जाना पड़ता है। पता लगाकर देखा है, उनके सभी कुछ है—नहीं है तो केवल पुस्तकालय। पुस्तक खरीदना उनमेंसे बहुतोंकी दृष्टिमें ही अपव्ययके सिवा और कुछ नहीं है। जिनके यहाँ पुस्तकालय है भी तो वे कई एक चटकीली-रगीन सुनहली जिल्दकी किताबें बाहरकी बैठकमें सजाये रखते हैं। लेकिन बगलाकी पुस्तकें बिल्कुल ही नहीं खरीदते।

इसीसे बगालमें – जिसे आप ज्ञानगर्भ पुस्तक कहते हैं—नहीं होती, और इसीसे प्रकाशक लोग छापना नहीं चाहते। वे कहते हैं—इन सबकी कोई माँग नहीं है, ले आओ उपन्यास कहानी। लोग सोचते हैं, कहानी या उपन्यास लिखना बहुत ही सरल सहज है। मोहल्लेके शुभचिन्तक लोग जैसे अक्षम आत्मीयको परामर्श देते हैं कि तुझसे और कुछ न होगा, जा, होमियोपैथीका धधा कर। अथच, होमियोपैथी चिकित्साके समान कठिन काम कम ही हैं। इसका कारण यह है कि जो चीज सबसे कठिन है, उसीको बहुत लोग सबसे सहज समझ लेते हैं। जैसे भगवान्के संबंधमें बातें कहते लोगोंको देखता हूँ।

समझता हूँ बहुत लोग उनकी सब पुस्तकोंके नाम तक नहीं जानते। अथच, आज आये हैं आँसू बहाने!

हमारे बड़े लोग यदि कमसे कम सामाजिक कर्त्तव्य समझकर भी पुस्तकें खरीदें, अर्थात् जिससे देशके लेखकोंकी सहायता हो, ऐसी चेष्टा करें, तो उससे साहित्यकी उन्नति ही होगी। लेखक लोग उत्साह पावेंगे, पेटभर खानेको पावेंगे और वे खुद तरह तरहकी पुस्तकें पढ़नेका अवसर पावेंगे। इसके फलस्वरूप उनके ज्ञानकी वृद्धि होगी। तभी तो वे 'ज्ञान-गर्भ' पुस्तकें लिख सकेंगे।

राय महाशयकी वक्तृता सुनकर और एक बात विशेषतासे हम लोगोंकी नजरमें आई है। वह यह कि उस देशकी जो कुछ उन्नति या भलाई हुई है, वह उस देशके जनसाधारणने की है। वे मस्त आदमी हैं। उन्हींके मोटे मोटे दानोंसे वहाँ बड़ी बड़ी संस्थाएँ स्थापित हुई हैं। हम अक्सर ही सरकारको गालियाँ देते हैं—बुरा भला कहते हैं। किन्तु यह हमारे ही देश-बन्धुकी स्मृतिका भाण्डार कितना भरा है? उसमें कितना दान आया है? उन्होंने देशके लिए कितना काम, कितना त्याग किया है? उनकी स्मृतिकी रक्षाके लिए कितने आवेदन निवेदन निकले? किन्तु वह भिक्षा-पात्र आज भी आशाके अनुरूप नहीं भरा। अथच, इग्लैंडमें 'वेस्ट मिनस्टर एवी' का एक कोना जब एक जगह चिटकने लगा, तब वहाँके डीनने बीस लाख पौंडके लिए एक अपील निकाली। कुछ महीनोंके भीतर ही इतना रुपया आ गया कि अन्तको वह इस फंडको बंद करनेके लिए वाध्य हुए। अथच, दाताओंने अपने नामका ढिंढोरा पिटवानेके लिए यह दान नहीं दिया था, यह स्पष्ट है; क्योंकि अखबारोंमें किसी दाताका नाम नहीं निकला। इतना तभी संभव होता है, जब लोगोंका मन स्वदेशके सम्बन्धमें सजग रहता है।

मेरी प्रार्थना है कि कुमार मुनीन्द्रदेव राय महाशय दीर्घजीवी हों, उनका प्रारंभ किया हुआ यह काम उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करे। उनकी बातें सुनकर हम लोगोंके मनमें एक आकुलता जागे। जिसकी जितनी शक्ति है, वह इस लाइब्रेरी-आन्दोलनके लिए वही दे तो देशका काम बहुत अग्रसर हो जायगा।

शायद हम लोग अपनी आँखोंसे उसे देखनेका अवसर न पावेंगे; किन्तु आशा होती है कि आज जो तरुण हैं, जो अवस्थामें छोटे हैं, वे निश्चय ही इस कामका कुछ फल देख पावेंगे।

'कोन्नगर-पाठचक्र' की चेष्टासे ये जो सब मूल्यवान् बातें सुनी गईं, इसके लिए वक्ता और सदस्योंको मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ। आज मुझे बड़ा आनन्द मिला, शिक्षा मिली, मनमें व्यथा भी पाई। कहाँ योरप और कहाँ हम लोगोंका यह दुर्भाग्य देश! यहाँ युगयुगान्तरके पाप जमा हैं। एकमात्र भगवानकी विशेष करुणाके सिवा रक्षा या परित्राणकी और कोई आशा नहीं दिखती।

शेष-प्रश्न

कल्याणीयासु—

हाँ, 'शेष-प्रश्न' को लेकर आन्दोलनकी लहर मेरे कानों तक आई है। कमसे कम जो अत्यन्त तीव्र और कटु हैं, वे कहीं संयोगवश मेरी आँखों और कानोंमें पड़नेसे रह न जायँ, इसकी ओर मेरे जो अत्यन्त शुभचिन्तक हैं, उनकी तेज़ नज़र है। ऐसे लेखोंको बड़े यत्नसे संग्रह करके लाल-नीली-हरी-बैंगनी अनेक रंगोंकी पेन्सिलोंसे निशान लगा-लगाकर उन्होंने डाकद्वारा, महसूल देकर, बड़ी सावधानीसे भेज दिया है। और बादको अलग चिट्ठी लिखकर खबर ली है कि मुझ तक पहुँचे या नहीं। उनका आग्रह, क्रोध और समवेदना हृदयको स्पर्श करती है।

खुद तुमने अखबार तो नहीं भेजे, किन्तु तुम्हें भी कम क्रोध नहीं आया। समालोचकके चरित्र, रुचि, यहाँतक कि पारिवारिक जीवनपर भी तुमने कटाक्ष किया है। एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि कड़ी बात कह सकना ही संसारमें कठिन काम नहीं है! मनुष्यका अपमान करनेसे अपनी

+ कोन्नगर-पाठचक्रकी बैठकमें सभापतिका अभिभाषण। 'विचित्रा' मासिक पत्रिका (आश्विन, १३४२ बंगला सन्) में प्रकाशित।

समझता हूँ बहुत लोग उनकी सब पुस्तकोंके नाम तक नहीं जानते। अथच, आज आये हैं आँसू बहाने!

हमारे बड़े लोग यदि कमसे कम सामाजिक कर्त्तव्य समझकर भी पुस्तकें खरीदें, अर्थात् जिससे देशके लेखकोंकी सहायता हो, ऐसी चेष्टा करें, तो उससे साहित्यकी उन्नति ही होगी। लेखक लोग उत्साह पावेंगे, पेटभर खानेको पावेंगे और वे खुद तरह तरहकी पुस्तकें पढ़नेका अवसर पावेंगे। इसके फलस्वरूप उनके ज्ञानकी वृद्धि होगी। तभी तो वे 'ज्ञान-गर्भ' पुस्तकें लिख सकेंगे।

राय महाशयकी वक्तृता सुनकर और एक बात विशेषतासे हम लोगोंकी नजरमें आई है। वह यह कि उस देशकी जो कुछ उन्नति या भलाई हुई है, वह उस देशके जनसाधारणने की है। वे मस्त आदमी हैं। उन्हींके मोटे मोटे दानोंसे वहाँ बड़ी बड़ी संस्थाएँ स्थापित हुई हैं। हम अक्सर ही सरकारको गालियाँ देते हैं—बुरा भला कहते हैं। किन्तु यह हमारे ही देश-बन्धुकी स्मृतिका भाण्डार कितना भरा है? उसमें कितना दान आया है? उन्होंने देशके लिए कितना काम, कितना त्याग किया है? उनकी स्मृतिकी रक्षाके लिए कितने आवेदन निवेदन निकले? किन्तु वह भिक्षा-पात्र आज भी आशाके अनुरूप नहीं भरा। अथच, इंग्लैंडमें 'वेस्ट मिनस्टर एबी' का एक कोना जब एक जगह चिटकने लगा, तब वहाँके डीनने बीस लाख पौंडके लिए एक अपील निकाली। कुछ महीनोंके भीतर ही इतना रुपया आ गया कि अन्तको वह इस फंडको बंद करनेके लिए बाध्य हुए। अथच, दाताओंने अपने नामका ढिंढोरा पिटवानेके लिए यह दान नहीं दिया था, यह स्पष्ट है; क्योंकि अखबारोंमें किसी दाताका नाम नहीं निकला। इतना तभी संभव होता है, जब लोगोंका मन स्वदेशके सम्बन्धमें सजग रहता है।

मेरी प्रार्थना है कि कुमार मुनीन्द्रदेव राय महाशय दीर्घजीवी हों; उनका प्रारंभ किया हुआ यह काम उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करे। उनकी बातें सुनकर हम लोगोंके मनमें एक आकुलता जागे। जिसकी जितनी शक्ति है, वह इस लाइब्रेरी-आन्दोलनके लिए वही दे तो देशका काम बहुत अग्रसर हो जायगा।

शायद हम लोग अपनी आँखोंसे उसे देखनेका अवसर न पावेंगे; किन्तु आशा होती है कि आज जो तरुण हैं, जो अवस्थामें छोटे हैं, वे निश्चय ही इस कामका कुछ फल देख पावेंगे।

'कोन्नगर-पाठचक्र' की चेष्टासे ये जो सब मूल्यवान् बातें सुनी गईं, इसके लिए वक्ता और सदस्योंको मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ। आज मुझे बड़ा आनन्द मिला, शिक्षा मिली, मनमें व्यथा भी पाई। कहाँ योरप और कहाँ हम लोगोंका यह दुर्भाग्य देश! यहाँ युगयुगान्तरके पाप जमा है। एकमात्र भगवानकी विशेष करुणाके सिवा रक्षा या परित्राणकी और कोई आशा नहीं दिखती।

शेष-प्रश्न

कल्याणीयासु—

हाँ, 'शेष-प्रश्न'को लेकर आन्दोलनकी लहर मेरे कानों तक आई है। कमसे कम जो अत्यन्त तीव्र और कटु हैं, वे कहीं संयोगवश मेरी आँखों और कानोंमें पड़नेसे रह न जायँ, इसकी ओर मेरे जो अत्यन्त शुभचिन्तक हैं, उनकी तेज़ नज़र है। ऐसे लेखोंको बड़े यत्नसे संग्रह करके लाल-नीली-हरी-बैंगनी अनेक रंगोंकी पेन्सिलोंसे निशान लगा-लगाकर उन्होंने डाकद्वारा, महसूल देकर, बड़ी सावधानीसे भेज दिया है। और बादको अलग चिट्ठी लिखकर खबर ली है कि मुझ तक पहुँचे या नहीं। उनका आग्रह, क्रोध और समवेदना हृदयको स्पर्श करती है।

खुद तुमने अखबार तो नहीं भेजे, किन्तु तुम्हें भी कम क्रोध नहीं आया। समालोचकके चरित्र, रुचि, यहाँतक कि पारिवारिक जीवनपर भी तुमने कटाक्ष किया है। एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि कड़ी बात कह सकना ही संसारमें कठिन काम नहीं है! मनुष्यका अपमान करनेसे अपनी

+ कोन्नगर-पाठचक्रकी बैठकमें सभापतिका अभिभाषण। 'विचित्रा' मासिक पत्रिका (आश्विन, १३४२ बंगला सन्) में प्रकाशित।

मर्यादाको ही सबसे अधिक चोट पहुँचती है। जो लोग जीवनमें यह भूल जाते हैं, वे एक बड़ी बात भूल जाते हैं। इसके सिवा, ऐसा भी तो हो सकता है कि 'पथेर-दावी' और 'शेष-प्रश्न' उनको सचमुच ही बुरा लगा हो। दुनियामें सभी पुस्तकें सभीके लिए नहीं हैं। फिर ऐसा तो कोई बँधा हुआ नियम नहीं है कि वे सभीको अच्छी लगें और सभी प्रशसा करें। हाँ, वह बात प्रकट करनेका ढग अच्छा नहीं बन पड़ा, यह मैं मानता हूँ। भाषा अकारण रूढ और हिंस्र हो उठी है, किन्तु यही तो रचना-शैलीकी बड़ी साधना है। मनके भीतर क्षोभ और उत्तेजनाका यथेष्ट कारण रहनेपर भी भले आदमीको असयत भाषाका प्रयोग नहीं करना चाहिए—यह बात बहुत दिनोंमें बड़े दुःख उठाकर मनमें बैठानी होती है। अपनी चिट्ठीमें तुमने यह भूल उनसे भी अधिक की है। इतनी बड़ी आत्म अवमानना और नहीं है।

भाव या ढंगसे जान पड़ता है, तुमको कालिज छोड़े अभी थोडे ही दिन हुए हैं। तुमने लिखा है, तुम्हारी सखियोंके मनका भी यही भाव है। यदि है, तो दु खकी बात है। यह मेरा लेख अगर तुम्हारे हाथमें पडे तो उनको दिखाना। शीलता स्त्रियोंका बड़ा आभूषण है। यह अपनी सम्पत्ति किसीके लिए, किसी बातके लिए भी नहीं छोड़नी चाहिए।

तुमने जानना चाहा है कि मैं इन सब बातोंका जवाब क्यों नहीं देता? इसका उत्तर यह है कि मेरा जी नहीं चाहता, क्योंकि यह मेरा काम नहीं है।—आत्मरक्षाके बहाने भी मनुष्यका असम्मान करना मुझसे नहीं होता। देखो न, लोग कहते हैं कि मैं पतिताओंका समर्थन करता हूँ। समर्थन मैं नहीं करता, केवल उनका अपमान करनेको ही मेरा मन नहीं चाहता। मैं कहता हूँ कि वे भी मनुष्य हैं, उन्हें भी फर्याद करनेका अधिकार है और महाकालके दरबारमें इसका विचार एक दिन अवश्य होगा। अथच, सस्कारोंसे अंधे हो रहे लोग इस बातको किसी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते।

किन्तु ये सब मेरी निहायत व्यक्तिगत बातें है। और नहीं कहूँगा। हाँ, इस सम्बन्धमें और एक बात कह देना शायद अच्छा होगा। तुम लोग शायद तब छोटे होगे। अब जिसका अस्तित्व नहीं है, ऐसे एक मासिकपत्रमें उस

समय रवीन्द्रनाथपर और उनका भक्त शिष्य कहकर मुझपर भी महीने-महीने बराबर आक्रमण हो रहे थे, गाली-गलौज और व्यंग्य-विद्रूपकी कोई सीमा न थी, अध्यवसाय अथवा तत्परता भी वैसी ही जोरदार थी। किन्तु कवि चुप थे। मैंने परेशान होकर एक दिन अभियोग किया तो कविने शान्त कण्ठसे कहा था—" उपाय क्या है! जिस शस्त्रको लेकर वे लोग लड़ाई करते हैं, उस शस्त्रको मैं हाथसे छू भी तो नहीं सकता।" और एक दिन ऐसी ही किसी बातके उत्तरमें उन्होंने कहा था—" जिसकी बड़ाई नहीं कर सकता, उसकी निन्दा करनेमें भी मुझे लज्जा लगती है।"

उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा है किन्तु सबसे बड़ी ये दो बातें मैं कभी नहीं भूला। आज जीवनके पचपन वर्ष पूरे करके कृतज्ञ चित्तसे स्मरण करता हूँ कि मैं ठगाया नहीं। बल्कि मेरे अनजानमें ही लाभके खातेमें बहुत कुछ जमा हो गया है। मनुष्यकी श्रद्धा पाई है, प्यार-प्रेम पाया है। वास्तवमें यही तो कल्चर (संस्कृति) है—नहीं तो इसके क्या और कोई माने हैं? भाषापर मुझे जो कुछ अधिकार है—शायद थोड़ा-सा है भी—उसे क्या आखिरी वक्तमें इस दुर्गतिमें खींचकर नीचे गिराऊँगा?

अब साहित्यके सम्बधमें तुम्हारे बड़े प्रश्नका उत्तर देता हूँ।

तुमने सकोचके साथ प्रश्न किया है—

" बहुत लोग कहते हैं कि आपने 'शेष प्रश्न' में एक विशेष मतवादका प्रचार करनेकी चेष्टा की है। यह क्या सत्य है?"

सत्य है या नहीं, मैं नहीं कहूँगा। किन्तु 'प्रचार किया—प्रचार किया, बुरा किया' कहकर शोर मचा देनेसे ही जो लोग लज्जासे सिर नीचा कर लेते हैं और 'नहीं-नहीं' कहकर ऊँचे स्वरसे प्रतिवाद करने लगते हैं, उनमें मैं नहीं हूँ। अथच उलटे यदि मैं ही पूछूं कि इसमें भला इतना बड़ा अपराध हुआ क्या, तो मेरा विश्वास है कि वादी-प्रतिवादी कोई भी उसका सुनिश्चित उत्तर न दे पावेगा। तब एक पक्ष अबूझकी तरह गर्दन टेढी करके केवल यही कहता रहेगा—वह नहीं होता—वह नहीं होता। उससे art for arts sake (कला कलाके लिए) नीति जहन्नुममें जाती है। और दूसरे पक्षकी अवस्था होगी हम लोगोंके हरिकी सी। इसका एक किस्सा है। मेरे एक

दूरके नातेकी बहनके लगभग चार वर्षके एक लड़केका नाम हरि है। वह पूरा शैतान है। मार पीट, गाली-गलौज, एक पैरसे कोनेमें खड़ाकर देना आदि किसी भी उपायसे उसकी मा उसे ठीक नहीं कर सकी। घर भरके लोगोंने जब एक तरहसे उससे हार मान ली तब अचानक यह तरकीब किसे सूझी, मालूम नहीं, लेकिन इससे हरि बाबू एकदम शाइस्ता हो गये। केवल यही कहना पड़ता था कि अबकी मोहल्लेके चार भले आदमियोंको जमा करके इसका अपमान करो। अपमानके बारेमें उसकी क्या धारणा थी, यह वही जाने, किन्तु अपमानके नामसे वह काँप उठता था। देखता हूँ, इन लोगोंकी भी वही दशा है। एक बार कह देनेसे मतलब कि प्रचार किया है और art for art sake नहीं हुआ। किन्तु मैंने क्या प्रचार किया है, कहाँ किया है, उसमें क्या दोष है, उससे कौन-सा महाभारत अशुद्ध हो गया—ये सब प्रश्न ही अवैध हैं। तब कोई गालियाँ देने लगा, कोई हाथ जोड़कर भगवानकी आराधनामें लग गया—" रूपकार यदि संस्कारक हो उठे तब हे भगवान् - इत्यादि इत्यादि।" जान पड़ता है, वे लोग सोचते हैं कि अनुप्रास ही युक्ति है और गाली-गलौज ही समालोचना है। उनसे यह बात नहीं कही जा सकती कि जगत्का जो चिरस्मरणीय काव्य और साहित्य है, उसमें भी किसी-न-किसी रूपमें यह चीज़ है। रामायणमें है, महाभारतमें है, कालिदासके काव्य-ग्रन्थोंमें है, बंकिमके आनन्द-मठ और देवी चौधरानीमें है, इब्सेन-मेटरलिंक-टाल्सटायमें है, हमसून-बोअरवेल्समें है। किन्तु इससे क्या? ait for arts' sake का यह नारा यहाँ पश्चिमसे आया है। यह सब जैसे उनके नखाग्रमें है। कहते हैं—कहानीका कहानीपन ही मिट्टी है, कारण, उससे चित्तका रजन जो नहीं हुआ! अरे भाई, किसका चित्तरजन? मेरा! गाँवमें मुखिया कौन है? मैं और मेरा मामा!

तुमने ' चित्तरजन ' शब्दको लेकर बहुत कुछ लिखा है, किन्तु यह एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि इसमें दो शब्द हैं। केवल ' रजन ' नहीं, ' चित्त ' नामकी भी एक चीज़ है और वह चीज़ बदलती है। चित्पुरके दफ्तरी खानेमें ' गुलबकावली 'की जगह है। उस तरफ वह चित्त-रजनका दावा रखती है। किन्तु उस दावेके बोरसे वर्नार्डशाको गाली देनेका अधिकार तो

उसे नहीं मिल जाता। मैं स्वीकार करता हूँ कि नारा दोहरानेका मोह होता है, उसके व्यवहारमें आनन्द है, पण्डित जैसा देखनेमें भी लगता है; किन्तु उसकी उपलब्धि करनेके लिए दुःख स्वीकार करना पडता है। अमुक for अमुक sake कह देनेसे ही सब बातोंका तत्त्व निरूपण नहीं हो जाता।

अनेक कारणोंसे 'पथेर दावी' रवीन्द्रनाथको अच्छी नहीं लगी। यह बात बताकर भी उन्होंने अपनी चिट्ठीके अन्तमें लिखा था—"यह उपन्यास एक 'प्रबन्ध'के आकारमें लिखनेसे इसका मूल्य साधारण ही रहता; किन्तु उपन्यासके भीतर जो तुमने कहा है, उसका देश और कालमें इसकी व्याप्तिका विराम न रहेगा।" अतएव कविने अगर इसे एक कहानीकी पुस्तक समझा हो, तो यह कहानीकी ही पुस्तक है। कमसे-कम इतना-सा सम्मान उनको देना।

अन्तमें तुमसे एक बात कहता हूँ। समाज-संस्कारकी कोई दुरभिसंधि मेरी नहीं है। इसीसे, इस पुस्तकके भीतर मनुष्यके दुःख और वेदनाका विवरण है, समस्या भी शायद है, किन्तु समाधान नहीं है। यह काम दूसरोंका है, मैं केवल कहानी-लेखक हूँ, इसके सिवा और कुछ नहीं।

एक विनती है। तुम अपरिचिता हो। अवस्थामें भी शायद बहुत छोटी हो। सरल मनसे तुम्हारे नाना प्रश्नोंके दो-एक जवाब यथाशक्ति दे दिये हैं। तो भी, इच्छा न रहनेपर भी, दो-एक जगह अगर कुछ कड़ा लिख दिया हो तो नाराज़ मत होना। *

आधुनिक साहित्यकी कैफियत

.....मैंने लक्ष किया है कि साहित्य-रचनाके कामको फिजूल समझकर जिन लोगोंने समालोचनाके काममें मन लगाया है, उनके वक्तव्य प्रधान-रूपसे दो हैं।

पहला यह कि बंगला भाषाके समान भाषा और किसकी है ? हमारे

---

* सुमदभवनकी श्रीमती...सेनको लिखा गया पत्र। 'बिजली'के छठे वर्षकी तेरहवीं संख्यासे उद्धृत।

साहित्यने विश्व-साहित्यमें स्थान पाया है—हमारे साहित्यको 'नोबल प्राइज' मिला है। यहाँतक कि विलायतके साहब तक यह बात कहते हैं कि हम लोगोंका साहित्य बहुत अच्छा है। पचास वर्षके बीच इतनी बड़ी उन्नति किसी और देशने कब की है?

दूसरा वक्तव्य यह है कि बंगला-साहित्य डूब गया—रसातलको चला गया, अब नहीं बच सकता। कूड़ा-कर्कटसे बंगला-साहित्य लद गया है, हमारी बात कोई नहीं सुनता। हाय! हाय! बंकिमचन्द्र जीवित नहीं हैं, मुद्गर कौन मारेगा? ढेरके ढेर नाटक, उपन्यास और कविता-ग्रन्थ निकल रहे हैं। उनमें सुशिक्षा नहीं है, उनमें खालिस दुर्नीति भरी है। इसका कुफल भी स्पष्ट देखा जा रहा है। कारण, पुरातत्त्वकी जो सब पुस्तकें अब भी लिखी नहीं गई हैं, उनके प्रति पाठकोंका आग्रह नहीं देखा जाता और इतिहास, विज्ञान आदिकी अच्छी-अच्छी पुस्तकें पाठकोंके उत्साहके अभावसे लिखी ही नहीं जा रही हैं।

मैं स्वीकार करता हूँ कि जो सब किताबें लिखी नहीं गईं, उन्हें न पढ़नेका प्रायश्चित्त क्या है, यह मैं नहीं जानता, और पाठकोंके आग्रहके अभावसे जो सब पण्डितोंका पुस्तक लिखना बंद पड़ा है, इसका ही क्या उपाय है, यह भी मुझे नहीं सूझता। किन्तु ढेरकी ढेर पुस्तकें लिखनेके सम्बन्धमें मुझे कुछ कहना है और जान पड़ता है कि कहनेका साधारण अधिकार भी है।

जो लोग यह अभियोग उपस्थित करते हैं, उन्होंने क्या कभी हिसाब लगाकर देखा है कि वास्तवमें कितनी पुस्तकें हर महीने प्रकाशित होती हैं? भले और बुरे मिलाकर आजतक जितने नाटक, उपन्यास और कविता-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनकी संख्या कितनी है? मैं जानता हूँ कि बंगीय साहित्यने विश्व साहित्यमें स्थान पाया है, किन्तु केवल हम ही तो नहीं हैं, और भी तो कोई कोई हैं, जिन्होंने हमारी ही तरह विश्व-साहित्यमें स्थान पाया है। उनके नाटक-उपन्यासोंकी तुलनामें कितने नाटक और उपन्यास बंगलामें हैं? कविताकी पुस्तकें ही भला कितनी निकली हैं? नाटक-उपन्यासोंसे बंगदेश प्लावित हो गया—यह 'नारा' किसने लगाया था, मैं नहीं जानता। किन्तु देखता हूँ, जो कोई भी अपनेको बंग-साहित्यका विचारक मान लेता है, वही इस नारेको बिना सोचे-विचारे लगाने लगता है, समझता है कि